समता : दर्शन और व्यवहार

व्याख्याता :

आचार्य श्री नानालालजी महाराज

आकलनकर्त्ता :

शान्तिचन्द्र मेहता

एम॰ए॰, एल॰एल॰बी॰, एडवोकेट, चित्तौड़गढ़

प्रकाशक :

अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

प्रकाशक :—
श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ
रांगड़ी मोहल्ला
बीकानेर (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति २०००
(आश्विन शुक्ला १ संवत् २०३०)

मूल्य ४) चार रुपया

मुद्रक :—
मेहता फाइन आर्ट प्रेस
२०, बालमुकुन्द मक्कर रोड,
कलकत्ता-७
फोन : १४-१२४७

प्रकाशकीय

समता जीवन है, जीवन का स्वभाव है। स्वभाव का अभाव नहीं होता। स्वभाव साहजिक होता है, आरोपित नहीं होता। स्वभाव पाया नहीं जाता, स्वतः प्रगट है। इसीलिये जीवन के समग्र प्रयास साहजिक रूप से समता के लिये होते हैं। समता-उपलब्धि जीवन-प्रक्रिया का सार है, परिश्रम है और पुरुषार्थ है।

अपने समग्र स्वरूप में आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में जानना, प्राप्त करना अर्थात् स्वानुभूति से प्रकाशमान होना, स्व को प्रकाशित करना — समता है। आसक्ति ही आत्मा के स्वकेन्द्र से च्युति का कारण है। आसक्ति के फलस्वरूप एक के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष हो ही जाता है। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। स्व-पर, अपना-पराया, राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण के कारण ही जीवन में सदैव संघर्ष अथवा द्वन्द्व की स्थिति बनी रहती है और उससे क्षोभ-संकल्प-विकल्पों का क्रम चलता रहता है। यद्यपि आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्ति समता की स्थिति में रमण करती है। लेकिन राग-द्वेष आदि की उपस्थिति किसी भी स्थायी सन्तुलन की स्थिति को संभव नहीं होने देती। यही विषमता का मूल आधार है।

अनादिकालीन कर्मबन्ध सशरीरी आत्मा बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने के कारण नगण्य, महत्त्वहीन, परपदार्थों में स्व का आरोपण कर साहजिक समता के केन्द्र-बिन्दु, स्व का प्रकटरूप में अपलाप अथवा परित्याग कर देता है और उन पर पदार्थों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये स्व का ऊपरी तौर पर विसर्जन ही समता का अभाव और विषमता की प्रवृत्ति है।

विषमता की वृत्ति मानव के मन, वचन, काया के आंतरिक आयामों तक में समाविष्ट होने से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को व्याकुल बनाये हुए है। मानव-जीवन को स्पर्श करने वाले व्यवहार और व्यवस्थातंत्र में विशृंखलता व्याप्त है और इसके फलस्वरूप मूक प्राणियों का संहार, शोषण एवं भौतिक संपदाओं के संग्रह के स्वर मुखर है।

इन से परित्राण का उपाय स्व की ओर प्रत्यावर्तन है। यह प्रत्यावर्तन ही समतादर्शन है। दार्शनिक दृष्टि से ममत्व के शमनपूर्वक समता की साधना अनासक्त योग एवं निष्काम कर्म की सिद्धि है। सत् विचार, आचार और व्यवहार समता-साधना का सम्यक् आधार है।

समता विचार भी है और आचार भी है। वैचारिक समता का आधार है प्राणीमात्र के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना एवं स्वयं अपने लिये किसी को कष्ट न पहुँचाना।

विचार की सफल परिणति सत् आचार में है। मानव संयम को महत्त्व देते हुए समवितरण के लिये प्रवृत्त हो। अपने दायित्व के अनुरूप सम्यक् चेष्टा करे। अधिकार पद की आकांक्षा से उदासीन रह कर कर्त्तव्य को महत्त्वपूर्ण माने और कर्त्तव्य-तत्पर बने।

परम् श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० ने अपने प्रवचनों में समता-दर्शन के माध्यम से जीवन की विषमता और समाधान रूप समता का विशद विवेचन किया है। समता-सिद्धान्त-दर्शन, जीवन दर्शन, आत्मदर्शन एवं परमात्मदर्शन के चार दार्शनिक स्तंभों पर समता का जो व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह आज की विषम

परिस्थितियों में व्यक्ति से लेकर विश्व तक में सद् परिवर्त्तन की क्रान्तिकारी क्षमता रखती है। आचार्यश्रीजी द्वारा निर्देशित आचरण के आधारभूत २१ सूत्र और समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी के रूप में जीवन-साधना के तीन सोपान इस विचारधारा की व्यावहारिकता को संदिग्ध बनाते है। यह एक व्यावहारिक समाज-दर्शन के रूप में सामने है। यदि इस दिशा में प्रयास किया जाये तो 'समता समाज' की विचारधारा साकार हो सकती है।

आचार्यश्रीजी के प्रवचनों के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक 'समता : दर्शन और व्यवहार' का संपादन श्री शान्तिचन्द्र मेहता एम०ए०,एल०-एल०बी०, एडवोकेट ने मनोयोगपूर्वक किया है। संपादक महोदय ने आचार्यश्रीजी के विचारों को लाक्षणिक शैली एवं प्रांजल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आचार्यश्रीजी के विचारों के प्रस्तुतिकरण में मूल व्याख्याओं के भाव और भाषा का ध्यान रखा गया है फिर भी भाव-भाषा-सम्बन्धी कोई अनौचित्य दिखाई पड़े अथवा भावाभिव्यंजना में न्यूनाधिकता प्रतीत हुई हो तो उसके लिये उत्तरदायी आकलनकर्त्ता एवं प्रकाशक है। परम पूज्य आचार्यश्रीजी एवं विज्ञ पाठकों से हम इस हेतु क्षमाप्रार्थी है।

आकलनकर्त्ता श्री शांतिचन्द्र जी मेहता ने आचार्यश्रीजी के प्रवचनों में से समता-दर्शन के विचारों का संकलन करके भाव व भाषा को अधिकांशतः सुरक्षित रखते हुए जो ग्रन्थ का सारयुक्त संपादन किया है, तदर्थ हम उनके कृतज्ञ है।

हम शिक्षा-निदेशक राजस्थान श्रीयुत रणजीतसिंहजी कुम्मट आई० ए० एस० के विशेष आभारी है, जिन्होंने अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी प्रस्तावना लिखने के हमारे निवेदन को स्वीकृत किया।

सुन्दर व आकर्षक मुद्रण के लिये हम मेहता फाईन आर्ट प्रेस, कलकत्ता के कार्यकर्त्ताओं एवं संचालक श्री मदन कुमारजी मेहता का सधन्यवाद आभार मानते है।

अनादिकालीन कर्मबन्ध सशरीरी आत्मा बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने के कारण नगण्य, महत्त्वहीन, परपदार्थों में स्व का आरोपण कर साहजिक समता के केन्द्र-बिन्दु, स्व का प्रकटरूप में अपलाप अथवा परित्याग कर देता है और उन पर पदार्थों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये स्व का ऊपरी तौर पर विसर्जन ही समता का अभाव और विषमता की प्रवृत्ति है।

विषमता की वृत्ति मानव के मन, वचन, काया के आंतरिक आयामों तक में समाविष्ट होने से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को व्याकुल बनाये हुए है। मानव-जीवन को स्पर्श करने वाले व्यवहार और व्यवस्थातंत्र में विशृंखलता व्याप्त है और इसके फलस्वरूप मूक प्राणियों का संहार, शोषण एवं भौतिक संपदाओं के संग्रह के स्वर मुखर हैं।

इस से परित्राण का उपाय स्व की ओर प्रत्यावर्तन है। यह प्रत्यावर्तन ही समतादर्शन है। दार्शनिक दृष्टि से ममत्व के शमनपूर्वक समता की साधना अनासक्त योग एवं निष्काम कर्म की सिद्धि है। सद् विचार, वाचा और व्यवहार समता-साधना का सम्यक् आधार है।

समता विचार भी है और आचार भी है। वैचारिक समता का आधार है प्राणीमात्र के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करना एवं स्वयं अपने लिये किसी को कष्ट न पहुँचाना।

विचार की सफल परिणति सद् आचार में है। मानव संयम को महत्त्व देते हुए समवितरण के लिये प्रवृत्त हो। अपने दायित्व के अनुरूप सम्यक् चेष्टा करे। अधिकार पद की आकांक्षा से उदासीन रह कर कर्त्तव्य को महत्त्वपूर्ण माने और कर्त्तव्य-तत्पर बने।

परम् श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० ने अपने प्रवचनों में समता-दर्शन के माध्यम से जीवन की विषमता और समाधान रूप समता का विशद विवेचन किया है। समता-सिद्धान्त-दर्शन, जीवन दर्शन, आत्मदर्शन एवं परमात्मदर्शन के चार दार्शनिक स्तंभों पर समता का जो व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, वह आज की विषम-

परिस्थितियों में व्यक्ति से लेकर विश्व तक में सद् परिवर्तन की क्रान्तिकारी क्षमता रखती है। आचार्यश्रीजी द्वारा निर्देशित आचरण के आधारभूत २१ सूत्र और समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी के रूप में जीवन-साधना के तीन सोपान इस विचारधारा की व्यावहारिकता को संदिग्ध बनाते हैं। यह एक व्यावहारिक समाज-दर्शन के रूप में सामने है। यदि इस दिशा में प्रयास किया जाये तो 'समता-समाज' की विचारधारा साकार हो सकती है।

आचार्यश्रीजी के प्रवचनों के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक 'समता : दर्शन और व्यवहार' का संपादन श्री शान्तिचन्द्र मेहता एम०ए०,एल०-एल०बी०, एडवोकेट ने मनोयोगपूर्वक किया है। संपादक महोदय ने आचार्यश्रीजी के विचारों को लाक्षणिक शैली एवं प्रांजल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

आचार्यश्रीजी के विचारों के प्रस्तुतिकरण में मूल व्याख्याओं के भाव और भाषा का ध्यान रखा गया है फिर भी भाव-भाषा-सम्बन्धी कोई अनौचित्य दिखाई पड़े अथवा भावाभिव्यंजना में न्यूनाधिकता प्रतीत हुई हो तो उसके लिये उत्तरदायी आकलनकर्त्ता एवं प्रकाशक है। परम पूज्य आचार्यश्रीजी एवं विज्ञ पाठकों से हम इस हेतु क्षमाप्रार्थी है।

आकलनकर्त्ता श्री शांतिचन्द्र जी मेहता ने आचार्यश्रीजी के प्रवचनों में से समता-दर्शन के विचारों का संकलन करके भाव व भाषा को अधिकांशतः सुरक्षित रखते हुए जो ग्रन्थ का सायुक्त संपादन किया है, तदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं।

हम शिक्षा-निदेशक राजस्थान श्रीयुत रणजीतसिंहजी कुम्मट आई० ए० एस० के विशेष आभारी है, जिन्होंने अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी प्रस्तावना लिखने के हमारे निवेदन को स्वीकृत किया।

सुन्दर व आकर्षक मुद्रण के लिये हम मेहता फाईन आर्ट प्रेस, कलकत्ता के कार्यकर्त्ताओं एवं संचालक श्री मदन कुमारजी मेहता का सधन्यवाद आभार मानते है।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में विद्वान पाठकों के सुझाव भी हम साग्रह आमंत्रित करते हैं। यदि पुस्तक पाठकों को रुचिकर एवं जीवन उन्नायक प्रतीत हुई तो संपादक और प्रकाशक अपने प्रयास को सार्थक समझेंगे।

निवेदक :

जुगराज सेठिया,
मंत्री

भँवरलाल कोठारी, सहमंत्री
कालूराम छाजेड़, सहमंत्री
चंपालाल डागा, सहमंत्री
पृथ्वीराज पारख, सहमंत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

●

प्रस्तावना

आचार्यश्री नानालालजी महाराज साहब के प्रवचनों के संकलन 'समता : दर्शन और व्यवहार' पर दो शब्द लिखना धृष्टता नहीं तो और क्या है ? परन्तु ग्रन्थ के प्रकाशक एवं अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैनसंघ के सहमंत्री श्री भँवरलालजी कोठारी भी मानते कब हैं ? आचार्यश्रीजी के प्रवचन के कुछ अंश उनके चरणों में बैठकर सुने हैं। उन पर अपनी अज्ञता की छाप लगाऊँ; यह असह्य है। परन्तु प्रसन्नता है कि अज्ञता-प्रदर्शन का भी आज मौका लगा। तथाकथित पंडिताई का प्रदर्शन तो सब करते हैं परन्तु अज्ञता-प्रदर्शन का सुअवसर भी कदाचित् पुण्ययोग से ही मिलता है।

वर्तमान जीवन में व्यक्ति से अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक व्याप्त विषमता एवं उसकी विभीषिका, विग्रह एवं विनाश की कगार, असंतुलन एवं आन्दोलन आचार्यश्रीजी ने अपनी आत्मदृष्टि से देखा एवं मानवता के करुण क्रन्दन से द्रवित हो उसको बचाने के लिये उपदेशामृत की धारा प्रवाहित की है।

समता-सिद्धान्त नया नहीं है—वीर-प्ररूपित वचन है व जैनदर्शन का मूलाधार है। परन्तु इसे धर्म की संकीर्णता में बंधा देख व उसकी

ग्रन्थ के सम्बन्ध में विद्वान पाठकों के सुझाव भी हम साग्रह आमंत्रित करते हैं। यदि पुस्तक पाठकों को रुचिकर एवं जीवन उन्नायक प्रतीत हुई तो संपादक और प्रकाशक अपने प्रयास को सार्थक समझेंगे।

निवेदक :

जुगराज सेठिया,
मंत्री

भँवरलाल कोठारी, सहमंत्री — चंपालाल डागा, सहमंत्री

कालूराम छाजेड़, सहमंत्री — पृथ्वीराज पारख, सहमंत्री

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

●

स्वाद चखने में है देखने में नहीं। इस पुस्तक का महत्त्व पढ़ने में नहीं आचरण में है। आचरण की कोई सीधी सरल सड़क नहीं है। संयम सीढ़ी है और असंयम एक ढलान। सीढ़ी पर चढ़ने में जोर लगाना पड़ता है पर ढलाव में कुछ नहीं। ढुलकने में जैसे बालक को आनन्द आता है वैसे ही असंयम में अधिकतर मस्त रहते हैं। ढुलकना अच्छा लगता है जबतक गर्त में न गिर जाये। गर्त में गिरने पर ही सीढ़ी का महत्त्व मालूम होता है। जिन्होंने देखा व जाना; वे सीढ़ी का मार्ग बताते हैं। निर्णय हमें करना है कि समता की सीढ़ी पर चढ़ना है या विषमता में लुढ़कना है। जो चढ़ना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक अमृतपान है। आचार्यश्री का आह्वान है—पीओ और आगे बढ़ो।

बीकानेर

रणजीत सिंह कुम्भट
शिक्षा-निदेशक
प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा,
राजस्थान,

व्यापक महत्ता का ज्ञान जन जन को न होने से इसे नये संदर्भ व दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। यह किसी वर्ग विशेष के लिये नहीं वरन् प्राणीमात्र के लिये है। यदि मानवता के किसी भी वर्ग ने समता-सिद्धान्तको न समझ कर विषमता की ओर कदम बढ़ाये तो समग्र विश्व के लिये खतरा उत्पन्न हो सकता है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर व्यापक मानव-धर्म के रूप में समतादर्शन को प्रतिपादित किया है।

समता जीवन की दृष्टि है। जैसी दृष्टि होगी वैसा ही आचरण होगा। जैसा मानव देखता है वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होती है। यदि एक साधारण रस्सी को मनुष्य भ्रमवश सांप समझ ले तो उसमें भय, क्रोध व प्रतिशोध की प्रतिक्रिया होती है। यदि कदाचित् सांप को ही रस्सी समझ ले तो निर्भीकता का आचरण होता है। यही सिद्धान्त जीवन के हर पहलू पर लागू होता है। यदि किसी भी वस्तु को सम्यक् व सहीरूप से समझने की दृष्टि रखें व उसी रूप से आचरण करने का प्रयत्न करें तो सामाजिक असन्तुलन, विग्रह व विषमता समाज में हो नहीं सकती। यही आचार्यश्रीजी का मूल संदेश है।

आचार्यश्री ने सिद्धान्त प्रतिपादित कर छोड़ दिया हो ऐसी बात नहीं है। सिद्धान्त को कैसे व्यवहार में परिणत किया जाय इस पर भी पूरा विवेचन किया है। सिद्धान्तदर्शन के अतिरिक्त जीवनदर्शन, आत्मदर्शन व परमात्मदर्शन के विविध पहलुओं में कैसा आचरण हो इसका पूरा निरूपण किया है।

आज की युवा पीढ़ी पूछती है—धर्म क्या है? किस धर्म को मानें? मन्दिर में जायें या स्थानक में—? अथवा आचरण शुद्धता लायें? धर्म-प्ररूपित आचरण आज के वैज्ञानिक युग में कहां तक ठीक है व इसका क्या महत्त्व है? कतिपय धर्मानुरागियों के 'धर्माचरण' व 'व्यापाराचरण' में विरोध को देखकर भी युवा पीढ़ी धर्मविमुख होती जा रही है। धर्म ढकोसले में नहीं है। आचरण में है। धर्म जीवन का अंग है। *समता धर्म* का मूल है। इस तर्कसंगत विवेचन व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आचार्यश्री ने आधुनिक पीढ़ी को भी आकर्षित करने का प्रयत्न किया है।

अनुक्रमणिका

समता-सूक्त

"समतामय जीवन हो सबका
समता हो जीवन का कर्म
रम जाये अन्तर बाहर में
समता का शुभ मंगल मर्म"

"समता से दिग्भ्रान्त विश्व में,
आओ समता पाठ पढ़ें।
सहज सुमति से समदर्शन पर,
आओ हम सब साथ बढ़ें।"

समता का विस्तार, विषमता
के इस युग में करना है
'गुरु नाना" के समदर्शन से,
परम् "शान्ति" को वरना है।

—शान्ति मुनि

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

विषयानुक्रम पृष्ठ

समता : दर्शन और व्यवहार

:१:

वर्तमान विषमता की विभीषिका

आज सारे संसार में विषमता की सर्वग्राही आग धू-धू करके जल रही है। जहां दृष्टि जाती है, वहीं दिखाई देता है कि हृदय में अशान्ति, वचन में विशृंखलता एवं जीवन में स्वार्थ की विक्षिप्तता ने सब ओर मनुष्यता के कोमल और हार्दिक भावों को आच्छादित कर दिया है। ऐसा लगता है कि चंचलता में गोते लगाता हुआ मनुष्य का मन भ्रष्टता एवं विकृति के गर्त की ओर निरन्तर अग्रसर होता ही चला जा रहा है।

संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का मूल बिन्दु ही यह होता है कि सुसंस्कृत एवं सभ्य मनुष्य पहले दूसरों के लिये सोचे—दूसरों के लिये कुछ करे और अपने लिये बाद में। अपने स्वार्थ को छोड़कर जो जितना अधिक पर-हित में अपने आपको लगा देता है, उसे उतना ही अधिक संस्कृत एवं सभ्य मानना चाहिये। किन्तु वर्तमान विषम वातावरण की सबसे बड़ी विडम्बना यही है कि मनुष्य अधिकांशतः केवल अपने और अपने लिये सोचता है—अपने स्वार्थों की ही येनकेन प्रकारेण पूर्ति करना चाहता है। आपाधापी में जैसे वह अपनी अब तक की विकसित समूची संस्कृति तथा सभ्यता को भी गवाता जा रहा है।

जब इस प्रकार मनुष्य अपनी संस्कृति और सभ्यता को भुला देगा, अपनी आस्था एवं निष्ठा को खो देगा और अपनी चेतना के दीप को बुझा देगा तो क्या वह पुनः अपने आदिमकालीन अविकास में नहीं डूब जायगा? विचारणीय है कि आज की यह विषमता मनुष्य को कहाँ ले जायगी?

सर्वव्यापी विषमता

अमावस्या की मध्य रात्रि का अन्धकार जैसे सर्वव्यापी हो जाता है, वैसी ही सर्वव्यापी यह विषमता हो रही है। क्या व्यक्ति के हृदय की आन्तरिक गहराइयों में तो क्या बाह्य संसार में व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं समूचे विश्व में—प्रायः यह विषमता फैलती जा रही है—गहराती जा रही है।

विषभरी यह विषमता सबसे पहले मानव-हृदय की भीतरी परतों में घुस कर उसे क्षत-विक्षत बनाती है और हृदय की सौजन्यता तथा शालीनता को नष्ट कर देती है। जो हृदय समता की रसधारा में समरस बन कर न केवल अपने भीतर बल्कि बाहर भी सब ठौर आनन्द की उमंग उत्पन्न कर सकता है, वही हृदय विषमता की आग में जल कर स्वयं तो काला कलूटा बनता ही है, किन्तु उस कालिमा को बाह्य वातावरण में भी चारों ओर विस्तारित कर देता है।

विचार सर्वप्रथम हृदय-तल से ही फूटता है और इस प्रस्फुटन का रूप वैसा ही होता है, जैसा कि उसे साधन मिलता है। धरती एक सी होती है, बरसात भी एक सी—किन्तु एक ही खेत में अलग २ एक ओर यदि गन्ना बोया जाय तथा दूसरी ओर अफीम का पौधा लगाया जाय तो दो विभिन्न पौधों का प्रस्फुटन ऐसा होगा कि एक मिष्ट तो दूसरा विष, एक जीवन का वाहक तो दूसरा मृत्यु का।

इसी प्रकार दो हृदय एक से हों किन्तु एक में समता का बीज बोया जाय तथा दूसरे में विषमता का तो दोनों की विचार-सरणि एकदम

विरुद्ध होगी। समता का विचार जहाँ जीवन का आह्वान करता है, वहाँ विषमताजन्य विचार मृत्यु को बुलाता है।

विचार प्रकट होता है वाणी के माध्यम से और विषम विचार वाणी को भी विषम बना देता है एवं कार्य में भी वैसी ही छाप छोड़ता है।

फैलाव व्यक्ति से विश्व तक

यह विषमता इस तरह व्यक्ति के हृदय में पोषण प्राप्त करके जब बाहर फूटती है तो उसका सबसे पहला आक्रमण परिवार पर होता है, क्योंकि परिवार ही आधारगत घटक है। परिवार में जो रक्त-प्रभाव का सहज स्नेह होता है, वह भी विषम विचारों एवं वृत्तियों में पड़कर विषाक्त बन जाता है।

परिवार की सहृदयता एवं स्नेहिल वृत्ति को लूटती हुई विषमता जब आगे फैलती है तो वह समाज और राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में भेद-भाव व पक्षपात की असंख्य दीवारें खड़ी कर देती है तो पग २ पर पतन की खाइयाँ खोद देती है। जिन क्षेत्रों से वास्तव में दुर्बलता के क्षणों में मनुष्य को सम्हलने और उठने का सहारा मिलना चाहिये, वे ही क्षेत्र आज उसको अपनी ही लगाई हुई आग में जलते हुए उसकी जलन में भी वृद्धि ही कर रहे हैं।

सहकार के सूत्र में अतीत से बंधे हुए भारत पर ही यदि दृष्टिपात करें तो क्या यह स्पष्ट नहीं होगा कि ज्यों २ सब ओर विषमता पसरती जा रही है त्यों २ सरकार की कड़ियाँ ही नहीं टूट रही हैं बल्कि मानवीय सद्गुणों का शनैः शनैः ह्रास भी होता चला आ रहा है। विषमता के वशीभूत होकर क्या आज सामान्यतया भारतीय जन हृदयहीन, गुणहीन और कर्तव्यहीन नहीं होता जा रहा है?

जहाँ विभिन्न राष्ट्र विषमता के जाल में ग्रस्त होकर अपने स्वार्थों को अन्तर्राष्ट्रीय हित से ऊपर उठाते जा रहे हैं तो उसका स्वाभाविक

परिणाम सबके सामने है। वियतनाम युद्ध जो अभी २ समाप्त हुआ है, क्या मानव सभ्यता के भाल पर सदैव कलंक के रूप में मौजूद बना रहेगा, जहाँ व्यक्तियों और राष्ट्रों की पशुता ने नंगा नृत्य किया था। युद्ध और विनाश—यह विश्वगत विषमता का खुला परिणाम होता है।

और नित्य प्रति प्रकट होने वाले परिणामों से स्पष्ट रूप में जाना जा सकता है कि व्यक्ति से लेकर विश्व तक समूचे रूप में प्रायः यह विषमता फैली हुई है। इसने विश्व के कोने २ में आत्मीयता का मरण घंटा बजा दिया है।

बहुरूपी विषमता

जितने क्षेत्र—उससे कई गुनी भेद की दीवारें—इस विषमता के कितने रूप हैं—यह जानना भी आसान नहीं है।

राजनीति के क्षेत्र में नजर फैलावें तो लगता है कि सैकड़ों वर्षों के कठिन संघर्ष के बाद मनुष्य ने लोकतंत्र के रूप में समानता के कुछ सूत्र बटोरे, किन्तु विषमता के पुजारियों ने मत जैसे समानाधिकार के पवित्र प्रतीक को भी ऐसे कुटिल व्यवसाय का साधन बना दिया है कि प्रायः राजनीतिक समानता भी जैसे निरर्थक होती जा रही है। वैसे मत का समानाधिकार साधारण उपलब्धि नहीं है, इससे स्वस्थ परिवर्तन का चक्र घुमाया जा सकता है। किन्तु देश में यही चक्र किस दिशा में घुमाया गया और किस तरह घूम रहा है—यह सर्वविदित है।

विषमता के पंक में से राजनीति का उद्धार तो नहीं हुआ सो न सही, किन्तु यह तो जब इस दल-दल में गहरी डूबती जा रही है, तब आर्थिक क्षेत्र में समता लाने के सशक्त प्रयास किये जा सकें—यह और भी अधिक कठिन हो गया है। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आर्थिक प्रगति के सारे दावों के बावजूद इस क्षेत्र की विषमता बेहद बढ़ी है। एक ओर भव्य भवनों में ऐश्वर्य तथा विलास के झूलों में झूलते—इठलाते हुए अति अल्पसंख्यक नागरिक तो दूसरी ओर जीवन के आधार-

भूत आवश्यक पदार्थों—साधारण भोजन, वस्त्र एवं निवास से भी वंचित कठिनाइयों एवं कष्टों में जर्जर बने करोड़ों नर-कंकालों का विवश और असहाय समूह। यह कैसी दर्दनाक विषमता है ?

आर्थिक विषमता की विषमतम स्थितियों में भूलते-भटकते समाज में कहाँ खोजें मनुष्यता की मृदुल भावना को, कहाँ करें सौम्य एवं सरलता से परिपूरित समता के दर्शन ? जो सम्पन्न वर्ग है, उसमें जागृति लाना और सेवा की भावना भरना कठिन लगता है, क्योंकि जो सम्पन्नता उसे किसी भी आधार पर प्राप्त हुई है, उसके आनन्दोपयोग से वह अपने आपको क्यों विलग करे ? भोगग्रस्त उसकी चेतना शिथिल और रुग्ण हो रही है।

आध्यात्मिक क्षेत्र भी अछूता नहीं

तो दूसरी ओर दलन, दमन, शोषण और उत्पीड़न की कठिन चोटों को झेलता हुआ मायूस इन्सान विवशता के भार से दबता हुआ प्रतिपल अपनी स्वस्थ चेतना को खोता हुआ चला जा रहा है जड़त्व में ढलता जा रहा है, तो क्या उसके कुप्रभाव से धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र भी अछूते रह सकेंगे ? आत्मविस्मृति से आत्मानुभूति की जागृति क्या कठिनतम नहीं बन जायगी ?

सम्पन्न वर्ग का चैतन्य जड़ के संसर्ग से जड़ हुआ जा रहा है तो अभावग्रस्त वर्ग का चैतन्य जड़ के अभाव में जड़ हुआ जा रहा है—यह कैसी परिणति है ? जड़ का मादक असर जितना बढ़ता है, दुर्गुणों की प्रबलता उतनी ही अधिक फैलती है और इसी परिमाण में चेतना-शक्ति दुर्बल होती चली जाती है। चेतनाहीनता याने सुषुप्ति और सुषुप्ति याने जागृति का अभाव—फिर भला ऐसे समाज में जन्मे व्यक्ति धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुँच कर भी कितनी अपनी और कितनी दूसरों की जागृति साध सकेंगे ?

त्रिधर्मी विषमता

आज विषमता मनुष्य के मन की गहराइयों के भीतर पैठ कर भीतर ही भीतर समाती जा रही है। निश्छल मन छल के तारों में उलझता—फसता जा रहा है। अन्तर सोचता कुछ है, किन्तु उसका प्रकटीकरण किसी अन्य रूप में ही होता है। यह दुसमरा व्यवहार मनुष्य को सत्य से विमुख बनाता जा रहा है। जहाँ छल आ गया हो तो वहां सत्य रहेगा ही कहाँ? यदि सत्य नहीं तो स्वपर का हित कहाँ और आत्मा की सुन्दरता कहां? श्रीगणेश नहीं तो प्रगति की कल्पना ही कैसे की जा सकती है?

विगति की ओर अवश्य ही मनुष्य औंधा मुँह किये भाग रहा है—सबसे पहले और मूल में अपने मन को बिगाड़ कर। ऐसा मतलबखोर मन मनुष्यता की जड़ों पर ही जब कुठाराघात कर देता है तो स्वस्थ विचारों की उत्पत्ति ही दुस्साध्य बन जाती है। स्वार्थ के घेरे में जो विचार जन्म लेते हैं, वे उदार और त्यागमय नहीं होते और त्याग के बिना मन अपने मूल निर्मल स्वरूप की ऊँचाइयों में ऊपर कैसे उठ सकता है?

श्रीगणेश ही जहां विषमता के कुप्रभाव से विकृत भूमिका पर हो रहा हो, वहां भला आगे का विकास सुप्रभावी एवं कल्याणकारी बने—इसकी आशा दुराशा मात्र ही सिद्ध होगी। जब त्यागहीन विचार वाणी में होगा तो वह वाणी भी त्याग की प्रेरणा कैसे दे सकेगी? कुटिलता ...ों में गुंथी हुई यह वाणी जिस कर्म को जन्म देगी, वह कर्म ... स्वार्थ और भोग ... में गहरे धंसाने वाला ही तो हो

...। मनुष्य के मन ... में समा रही है, वाणी ... है और कर्म को ...ों में प्रलय ला रही है। जन्म ... के मन, वचन ... प्रगति का ...

विज्ञान का विकास और विषमता

यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि अनियंत्रित विज्ञान के विकास ने मानव जीवन को असन्तुलित बना दिया है और यह असन्तुलन नितप्रति विषमता को बढ़ाता जा रहा है। विज्ञान जहाँ वास्तव में निर्माण का साधन बनना चाहिये, वहाँ वह उसके दुरुपयोग से विनाश और महाविनाश का साधन बनता जा रहा है।

विज्ञान तो विशेष ज्ञान का नाम है और भला स्वयं ज्ञान और विज्ञान विनाशकारी कैसे बन सकता है? उसे विनाशकारी बनाने वाला है उसका अनियंत्रण अथवा उसका दुष्प्रवृत्तियों के बीच संरक्षण। उस्तरे से हजामत बनाई जाती है, मगर वही अगर बन्दर के हाथ में पड़ जाय तो वह उससे किसी का गला भी काट सकता है, बल्कि वह तो गला काट ही देता है।

विषमताजन्य समाज में विज्ञान का जितना विकास हुआ है, वह बराबर बन्दरस्वभावी लोगों के हाथ में पड़ता रहा है। आखिर विज्ञान एक शक्ति है इसके नये-नये अन्वेषण और अनुसंधान शक्ति के नये-नये स्रोतों को प्रकट करते हैं। ये ही स्रोत अगर सदाशयी और त्यागी लोगों के नियंत्रण में आ जाते हैं तो उनसे समता की ओर गति की जाकर सामूहिक कल्याण की साधना की जा सकती है। परन्तु आज तो यह शक्ति स्वार्थ और भोग के पंजों के हाथों में है, जिसका परिणाम है कि ये तत्त्व अधिक से अधिक शक्तिशाली होकर इस शक्ति का अपनी सत्ता और अपना वर्चस्व बढ़ाने में प्रयोग कर रहे हैं।

शक्ति स्रोतों का असन्तुलन

वैज्ञानिक शक्तियों का यह दुरुपयोग, सभी क्षेत्रों में निरन्तर विषमता में वृद्धि करता जा रहा है। हमारी संस्कृति का जो मूलाधार गुण और कर्म पर टिकाया गया था, वह इस असन्तुलित वातावरण के बीच उखड़ता जा रहा है। शक्ति-स्रोतों के इस असन्तुलन का सीधा

प्रभाव यह दिखाई दे रहा है कि योग्य को योग्य नहीं मिलता और अयोग्य सारा योग्य हड़प जाता है। योग्य हताश होकर निष्क्रिय होता जा रहा है और अयोग्य अपनी अयोग्यता का तांडव नृत्य कर रहा है।

शक्ति स्रोतों को असन्तुलित रखने वाला मुख्य तत्व ही गुणानुसार कर्म का विभाजन होता है और जब उपलब्धियों का विभाजन लूट के आधार पर होने लगे तो लुटेरा ही लूट सकेगा साहूकार को तो मुँह की खानी ही पड़ेगी। लुटेरा बेझिझक होकर लूटता रहेगा तो निश्चित रूप से शक्तियाँ अधिक से अधिक असन्तुलित होती जायगी। अधिक से अधिक शक्ति कम से कम हाथों में इकट्ठी होती जायगी और वे कम से कम हाथ भी खून और कत्ल करने वाले हाथ होंगे। दूसरी ओर बड़ी से बड़ी संख्या में लोग शक्तिहीन होकर नैतिकता के अपने साधारण धरातल से भी गिरने लगते हैं। आज भौतिकता की ऐसी ही दुर्दशाग्रस्त स्थिति में क्या समाज जकड़ा हुआ नहीं है ?

विलास और विनाश की विषमता

संसार की बाह्य परिस्थितियों में विलास और विनाश की विषमता आज पतन के दो अलग-अलग कगारों पर खड़ी हुई है। विलास की कगार पर खड़ा इन्सान अट्टहास कर रहा है तो विनाश की कगार पर खड़ा इन्सान इतना भयग्रस्त है कि दोनों को यह भान नहीं है कि वे किसी भी क्षण पतन की खाई में गिर सकते हैं।

एक विहंगावलोकन करें इस विषम दृश्य पर कि स्वार्थ और भोग की लिप्सा के पीछे पागलपन किस सीमा तक बढ़ता जा रहा है ? भारतीय दर्शन शास्त्रों में तृष्णा को वैतरणी नदी कहा है ऐसी नदी जिसका कहीं अन्त नहीं। तैरते जाइये, तैरते जाइये – न कूल, न किनारा। एक पश्चिमी दार्शनिक ने भी इसी दृष्टि से मनुष्य को उसकी स्वार्थ वृत्ति के कारण भेड़िया कहा है। यह वृत्ति जितनी अनियंत्रित होती

है, उतनी ही यह विशालरूपी होती हुई अधिकाधिक भयावह होती जाती है।

वर्तमान युग में सन्तोष की सीमाएँ टूट गई हैं और वितृष्णा व्यापक हो रही है। जिसके पास कुछ नहीं है—वह आवश्यकता के मारे कुछ पाना चाहता है, लेकिन जिसके पास काफी कुछ है, वह भी और अधिक पा लेने के लिये और पाते रहने के लिये पागल बना हुआ है। जितना वह पाता है, उसकी तृष्णा उससे कई गुनी अधिक बढ़ती जाती है और फिर सारे कर्त्तव्यों को भूल कर वह और अधिक पाना चाहता है। सिर्फ स्वयं के लिये वह पाता रहता है या यों कहें कि वह लूटता रहता है तो एक शक्तिशाली की लूट का असर हजारों के अभावों में फूटता है। विषमता की दूरियां इसी तरह आज तीखी बनती जा रही है।

आज आदमी धन की लिप्सा में पागल है, सत्ता की लिप्सा में मस्त बन रहा है तो यश और झूठे यश की लिप्सा में अपने अन्तर को कालिमामय बनाता जा रहा है। सभी जगह सिर्फ अपने लिये यह लेना ही लेना सीख गया है—भोग उसका प्रधान धर्म बन गया है, त्याग से उसकी निष्ठा उठती जा रही है और यही सारी विषमता का मूल है। आज का व्यापार और व्यवसाय इसी कारण नैतिकता की लीक से हटकर शोषण एवं उत्पीड़न का साधन बनता जा रहा है। धन कम हाथों में अधिक और अधिक हाथों में कम से कम होता जा रहा है। इसका नतीजा है कि कुछ सम्पन्न लोग विलास की कगार पर इठलाते हैं तो अधिकसंख्य जन अपनी प्रतिभा, अपनी गुणशीलता और अपने सामान्य विकास की बलि चढ़ाकर विनाश की कगार पर खड़े हैं।

धन लिप्सा सत्ता लिप्सा में बदल कर और अधिक आक्रामक बन रही है। आंखें मूंदकर सत्ता लिप्सा अपना अणुबम इस तरह गिराती है कि वहाँ दोषी और निर्दोष के विनाश में भी कोई भेद नहीं। सत्तालिप्सु एक तरह से राक्षस हो जाता है कि उसे अपने कुर्सी से

मतलब—फिर दूसरों का कितना अहित होता है—यह सब उसके लिये बेमतलब रह जाता है। यशलिप्सा इस परिप्रेक्ष्य में और अधिक भयानक हो जाती है। ये लिप्सायें ही बड़ा से बड़ा रूप धारण करती हुई आज संसार को विषमतम बनाए हुए है।

विषमता : दुर्गुणों की जननी

मानव समाज में जितने घातक से घातक दुर्गुण दिखाई देते है—यदि आप उनकी जड़ों को खोजने जायेंगे तो वे आपको समग्र रूप से विषमता के विष वृक्ष में मिल जायेंगे। यह विषमता कुछ व्यक्तियों के कुप्रयास से बनती और बढ़ती है, लेकिन इसके कुप्रभाव से सामूहिक विगति आरम्भ होती है और यह इतनी तेज गति से चलती है कि इसके चक्र में दोषी और निर्दोष समान रूप से पिसते चले जाते है।

यह पिसना दुतरफा होता है। व्यक्ति अपने अन्तर के जगत् में भी पिसता है तो बाहर की दुनिया में भी पिसता है और यहीं आकर एक प्रकार से भौतिकता एवं आध्यात्मिकता का विभेद कटुतम बन जाता है जब कि सामान्य अवस्था में दोनों के सम्यक् सन्तुलन से स्वस्थ प्रगति सम्पादित की जा सकती है। बाहर की दुनिया में पीसता हुआ इन्सान विषमता के जहर को पीकर स्वयं भी अधिकतर कटु और कुटिल होने लगता है। इस आपाधापी की दौड़ में जो पाता है वह भी बिगड़ता है और जो नहीं पाता है, वह भी बिगड़ता है।

अन्तर से सम्बन्धित यह बिगाड़ इस तरह विषमता के कारण विस्तार बढ़ाता हो जाता है। इसके विस्तार का अर्थ है—सद्गुणों की एक एक करके समाप्ति। विषमता से अधिकाधिक विषम बन कर जब इन्सान भौतिकता को पाने के लिये बेतहाशा भागता है तो भौतिक उपलब्धियाँ उसे मिले या नहीं—यह दूसरी बात है लेकिन वह उस भागदौड़ और भगदड़ में दुर्गुणों का संचय तो अवश्य ही कर लेता है। दुर्गुण अकेला नहीं आता—एक के साथ एक और एक के बाद एक—इस तरह इस गति से मनुष्यता पशुता और पैशाचिकता में बदली जाती है। यही कारण है कि दुर्गुणों की जननी विषमता को मानी जा सकती है।

विषमता का मूल कहाँ ?

सारभूत एक वाक्य में कहा जाय तो इस सर्वव्यापिनी पिशाचिनी विषमता का मूल मनुष्य की मनोवृत्ति में है। जैसे हमारी गज भूमि पर फैले एक वट वृक्ष का बीज राई जितना ही होता है, उसी प्रकार इस विषमता का बीज भी छोटा ही है, किन्तु है कठिन अवश्य। मनुष्य की मनोवृत्ति में जन्मा और पनपा यह बीज बाह्य और आन्तरिक जगत् में वट वृक्ष की तरह प्रस्फुटित होकर फैलता है और हर क्षेत्र में अपनी विषमता की शाखाएँ एवं उपशाखाएँ विस्तारित करता है।

इसके मूल के क्षेत्र को और भी छोटा किया जा सकता है। अधिक सूक्ष्मता से मनोवृत्तियों का अध्ययन किया जायगा तो स्पष्ट होगा कि इस भयाविनी विषमता का बीज केवल मनुष्य की भोग मनोवृत्ति में रहा हुआ है। भोग स्वयं के लिये ही होता है इसलिये भोग-वृत्ति स्वार्थ को जन्म देती है। स्वार्थ का स्वभाव संकुचित होता है—वह सदा छोटा से छोटा होता जाता है, उसका दायरा बराबर घटता ही जाता है। जितना यह दायरा घटता है, उतनी ही मनुष्यता बौनी होती है—पशुता बड़ी बनती जाती है।

भोगवृत्ति की पुष्टि का प्रधान आधार है परिग्रह – अपने द्रव्य अर्थ में भी और अपने भाव अर्थ में भी।

परिग्रह का जीवन पर प्रभाव

अपने द्रव्य अर्थ में परिग्रह का अर्थ है धन सम्पदा। निश्चय ही सांसारिक जीवन धनाभाव में नहीं चल सकता है। जीवन-निर्वाह की मूल आवश्यकताएँ है—भोजन, वस्त्र एवं निवास—जिनका संचालन धन पर ही आधारित है। इस लिये इस तथ्य को स्वीकारना पड़ेगा कि धन का संसारी जीवन पर अमित प्रभाव ही नहीं है, बल्कि वह उसके लिये अनिवार्य है।

अनिवार्य का अर्थ है धन के बिना इस सशरीरी जीवन को चलाना संभव नहीं; तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐसे अनिवार्य पदार्थ की साधारण रूप से उपेक्षा नहीं की जा सकती है। किसी भी दर्शन ने इसकी उपेक्षा की भी नहीं है। जो ज्ञान का प्रकाश फैलाया गया है, वह इस दिशा में कि धन को आवश्यक बुराई मानकर चला जाय। सन्तोष, सहकार, सहयोग आदि सद्गुणों का विकास इसी आधार पर किया गया तो धन का उपयोग करने वे मर्यादाओं के भीतर और उसके दुरुपयोग को न पनपने दें।

दार्शनिकों ने धन-लिप्सा के भयावह परिणामों को जाना था—इसीलिये उन्होंने इस पर अधिक से अधिक कड़े अंकुश लगाने का विधान भी किया। धन का बाहुल्य नैतिक अर्जन से संभव नहीं बनता। अधिक धन का अर्थ अधिक अन्याय और उसका अर्थ है अधिक कष्ट—इस कारण एक के लिये अधिक धन का साफ अर्थ हुआ बहुतों के लिये अधिक कष्ट। अतः बहुलतया अधिक धन अधिक अनीति से ही अर्जित हो सकता है—यह पहली बात।

भोग, स्वार्थ और विषमता

दूसरे, अधिक धन की उपलब्धि का सीधा प्रभाव मनुष्य की भोगवृत्ति के उत्तेजित बनने पर पड़ता है। भोग अधिक—स्वार्थ अधिक और जितना स्वार्थ अधिक तो उतनी ही विषमता अधिक जटिल बनती जायगी—यह स्वाभाविक प्रक्रिया होती है।

होना यह चाहिये कि जो अधिक सद्गुणी हो, वह समाज में अधिक शक्तिशाली हो किन्तु जहाँ धन-लिप्सा को अनियंत्रित छोड़ दी जाती है, वहाँ अधिक धनी, अधिक शक्तिशाली और अधिक धनी, अधिक सम्माननीय का मापदंड बन जाता है। इसी मापदंड से विषमता का विषवृक्ष फूटता है।

शक्ति और सम्मान का स्रोत जब गुण न रह कर धन बन जाता है तो सांसारिक जीवन में सभी धन के पीछे दौड़ना शुरू करते हैं—एक गहरा ममत्व लेकर। समाज का ऐसा मूल्य निर्धारण मनुष्य को विदिशा में मोड़ देता है। तब भोग उसका भगवान् बन जाता है और स्वार्थ उसका परम आराध्य देव—फिर भला उसका विवेक इन घेरों से बाहर कैसे निकले और कैसे समता के स्वस्थ मूल्यों को ग्रहण करे? जब विवेक सो जाता है तो निर्णय शक्ति उभरती नहीं। निर्णय नहीं तो जीवन की दिशा नहीं – भावना का जगत् तब शून्य होने लगता है। दिशा निर्णय एवं स्वस्थ भावना के अभाव में विषमता ही तो सब ठौर फैलने लगेगी।

परिग्रह का गूढ़ार्थः मूर्छा

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो—" यह जैन-सूत्रों की परिग्रह की गूढ़ व्याख्या है। मूर्छा को परिग्रह कहा गया है। द्रव्य परिग्रह की ओर तब कदम बढ़ते हैं जब पहले भाव परिग्रह जन्म लेता है और यह भाव परिग्रह है—ममत्व और मूर्छा जब मनुष्य की भावनात्मक जागृति क्षीण बनती है, उस अवस्था को ही मूर्छा कहते हैं। ममत्व मूर्छा को बढ़ाता है।

यह मेरा है—ऐसा अनुभाव कभी अन्तर जगत् के लिये स्फूर्तिजनक नहीं माना जाता है। क्योंकि इसी अनुभाव से स्वार्थ पैदा होता है जिसकी परिणति व्यापक विषमता में होती है। यह मेरा है इसे ही ममत्व कहा गया है। मेरे तेरे की भावना से ऊपर उठने में ही जागृति का मूल मंत्र समाया हुआ है और इसी भावना की नींव पर त्याग का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है।

इस मूर्छा को मन में न जन्मने दो, न जमने दो—फिर जिन जीवन मूल्यों का निर्माण होगा, वह त्याग [illegible] होगा। [illegible] का अर्थ है जो अपने पास [illegible]

बल्कि यों कहें कि अपनी ही आत्मा के उपकार के निमित्त छोड़ देना। जो छोड़ना सीख लेता है तो उसकी तृष्णा कट जाती है और इस तृष्णा के कटने पर विषमता के मूल पर आघात होता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद

परिग्रह और परिग्रहजन्य मनोवृत्तियों में भटकना या परिग्रह और उसकी मूर्छा तक से निरपेक्ष बन जाना—वास्तव में यही जीवन का दोराहा है। एक राह प्रवृत्ति की है, दूसरी राह निवृत्ति की। निवृत्ति और समूची निवृत्ति को सभी नहीं अपना सकते हैं। समूची निवृत्ति साधु जीवन का अंग होती है और अन्तिम रूप से वही ग्राह्य मानी गई है। किन्तु सांसारिक जीवन में न्यूनाधिक प्रवृत्ति के बिना काम नहीं चल सकता है। इसलिये बताया गया है कि द्रव्य परिग्रह के अर्जन की पद्धति को आत्म-नियंत्रित बनाओ।

यह पद्धति जितनी विषमता से दूर हटेगी—जितनी समता के समीप जायगी, उतनी ही सार्वजनिक कल्याण का कारण भी बन सकेगी। इस पद्धति को नियंत्रित नियम और संयम के आधार पर ही बनाई जा सकेगी—यह नियम और संयम जितना व्यक्ति स्वेच्छा से ग्रहण करे उतना ही अच्छा है। हाँ, व्यक्ति की अज्ञान अवस्था में ऐसे नियम और संयम को सामूहिक शक्ति से भी शुरू करके व्यक्ति जीवन को प्रभावित बनाया जा सकता है।

नियम और संयम की धारा तब ही बहती रह सकेगी जब परिग्रह की मूर्छा समाप्त की जाय। जीवन-निर्वाह के लिये धन चाहिये, यह निरपेक्ष भाव से अर्जित किया जाय और चारों ओर समता के वातावरण की सृष्टि की जाय—तब धन जीवन में प्राथमिक न रहकर गौण हो जायगा। इसके गौण होते ही गुण ऊपर चढ़ेगा—विषमता कटेगी और समता प्रसारित होगी। नियंत्रित प्रवृत्ति और निवृत्ति की ओर गति—यह समता जीवन का आधार बन जायगा।

एक जटिल प्रश्न ?

वर्तमान विषमता की विभीषिका में इसलिये यह जटिल प्रश्न पैदा होता है कि क्या व्यक्ति और समाज के जीवन को इस विषमता के बहुमुखी नागपाश से मुक्त बनाया जा सकता है ? क्या समग्र जीवन को न सिर्फ अन्तर्जगत् में, बल्कि बाहर की दुनिया में भी समता, सहयोगिता और सदाशयता पर खड़ा किया जा सकता है ? और क्या उल्लास, उत्साह और उन्नति के द्वार सभी के लिये समान रूप से खोले जा सकते हैं ?

प्रश्न उत्तर मांगता है ?

प्रश्न गहरा है—जटिल भी है किन्तु प्रबुद्ध वर्ग के सद्विवेक पर चोट करने वाला है—काश कि इसे वैसी ही गहरी अनुभूति से समझने और अपनी कार्य शक्ति को कर्मठ बनाने का यत्न किया जाय।

यह प्रश्न उत्तर मांगता है—समाधान चाहता है। यह मांग गूंजती है—उत्तर दीजिये, समाधान कीजिये अथवा अपने और अपने समस्त संगठनों के भविष्य को खतरे में डालने के लिये तैयार हो जाइये।

इस गूंज को सुनिये और उत्तर तथा समाधान खोजिये। प्रश्न विषमता का है—उत्तर समता में निहित है।

———

इस दर्शन की तब परिणति यह होगी कि चेतन अपने ज्ञान की ज्योति को प्रदीप्त रखते हुए जड़ पदार्थों पर अपना नियंत्रण एवं सन्तुलन रखेगा और इसका सीधा प्रभाव यह होगा कि चेतन की हार्दिकता एवं सहानुभूति चेतन के साथ होगी—जड़ तो जीवन संचालन का निमित्त मात्र बना रहेगा। जीवन में जहाँ जड़ के प्रति ममत्व ही नहीं बनेगा तो फिर विषमता के जन्म लेने का सूत्र ही कहाँ उत्पन्न होगा?

आत्म विस्मृति ही इस दृष्टि से विषमता की विडम्बना की जननी है। अपने को जब भूलते हैं तो अपने जानने, मानने और करने की क्षमता को भी भूलते हैं और इसी भूल का अर्थ है जीवन में सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की क्षति। सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य का जीवन में जबतक आविर्भाव नहीं होता तबतक विकास का मूल भी हाथ नहीं आता है। इसलिये अपने आपको समझें—अपने जीवन के मर्म को जानें—इस ओर पहले रुचि जागनी चाहिये।

मूल प्रश्न—जीवन क्या है ?

इस दिशा में विशिष्ट सत्यानुभूति के उद्देश्य से यह नवीन सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है कि—

"किं जीवनम् ?
सम्यक् निर्णायकं समतामयञ्च यत्
तज्जीवनम् ।"

जीवन क्या है ? प्रश्न उठाया गया है और उसका उत्तर भी इसी सूत्र में दिया गया है कि जो जीवन सम्यक्, निर्णायक और समतामय है, वास्तव में वही जीवन है।

जो जिया जाता है, वह जीवन है—यह तो जीवन की स्थूल परिभाषा है। एक आदमी को बोरे में बांध कर पहाड़ की चोटी से नीचे लुढ़का दिया जाय तो वह बोरा ढलान से लुढ़कता हुआ नीचे आ जाय—यह भी एक तरह से चलना ही हुआ। वहीं दूसरा आदमी अपनी

नये गुले कदमों से—अपनी सजग दृष्टि से चल कर उतरे—उसे भी तो चलना ही कहेंगे। तो दोनों तरह के चलने में फर्क क्या हुआ ? एक चलाया जाता है, दूसरा चलता है। चलाया जाना जड़त्व है तो चलना चैतन्य। अब दोनों के परिणाम भी देखिये। जो बोरे में बंधा लुढ़क कर चलता है, वह लहूलुहान हो जायगा—चट्टानों के आघात-प्रतिघातों से वह अपनी संज्ञा भी खो बैठेगा और संभव है कि फिर लम्बे अर्से तक वह चल सकने के काबिल भी न रहे। तो जो केवल जिया जाता है, उसे केवल जड़तापूर्ण जीवन ही कहा जा सकता है।

सार्थक जीवन वह है जो स्वयं चले—स्वस्थ एवं सुदृढ़ गति से चले बल्कि अपने चलने के साथ अन्य दुर्बल जीवनों में भी प्रगति का बल भरता हुआ चले।

सम्यक् निर्णायक जीवन

जीवन की परिभाषा के अन्तर्गत निर्णायक शब्द अपेक्षा से विशेष्य के रूप में लिया जा सकता है। इसकी व्याख्या यदि हमारी समझ में आ गई तो हम इस शब्द के साथ लगने वाले सम्यक् विशेषण को भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह निर्णायक शक्ति प्रत्येक जीवन में विद्यमान है और आत्मिक जागृति के परिमाण में यह शक्ति भी विकसित होती रहती है। निश्चय ही मानव जीवन में निर्णायक शक्ति अधिकतर मात्रा में होती है बशर्ते कि उस शक्ति को जगाकर उसे सही दिशा में कार्यरत बनाई जाय।

आज निर्णायक शक्ति के कार्य को देखा जा रहा है लेकिन कर्ता का अवलोकन नहीं किया जा रहा है। फव्वारे छूट रहे हैं, फव्वारों को आप देखते हैं किन्तु इसे समझने का यत्न नहीं करते कि इन फव्वारों को कौन छोड़ रहा है ? मोटरकार भाग रही है और किसी मनुष्य की दृष्टि उस पर लगी हुई है। वह कार बहुत तेज गति से जा रही है लेकिन कार चलाने वाले को दौड़ते हुए आप नहीं देखते। वह तो दौड़ता

नहीं है, अन्दर बैठा रहता है। भीतर बैठ कर भी वह जिस तीव्र गति से कार को दौड़ाता है, बताइये, वह चलाने वाले की कौन सी शक्ति है ?

यह शक्ति, ज्ञान या विज्ञान निर्णायक बुद्धि में ही तो रहा हुआ है। अपने इस जीवन को कार की उपमा में मान लें—फिर तुलनात्मक दृष्टि से देखें कि अगर कार चलाने वाला क्षण भर के लिये भी निर्णायक बुद्धि को खो बैठे कि कब और कैसे कार को किधर मोड़नी है तो कल्पना करें कि क्या अनर्थ हो सकता है ? वह स्वयं को या दूसरों को मार सकता है या दूसरी हानि कर सकता है।

जीवन संचालन और निर्णायक बुद्धि

संसार के इस रंगमंच पर सजीव शरीर रूपी कार न जाने कब से इधर उधर दौड़ रही है। शरीर आपके भी है, आपको दीखता भी है, लेकिन पहली बात तो यह कि आप यह समझने का गंभीरता से प्रयास नहीं करते कि इस सजीव शरीर को दौड़ाने वाली कौन सी शक्ति है ? जब तक जीवन के संचालक की स्थिति ही समझ में नहीं आवे तो उसकी संचालन विधि को समझना तथा उसको नियंत्रित करना—यह तो आगे आगे की बात है। संचालन-विधि को सुव्यवस्थित करने और रखने वाली ही तो निर्णायक बुद्धि होती है।

सिर्फ कार को और देखा और चलाने वाले को नहीं समझा तो उससे अनर्थ की ही आशंका रहेगी। इस दृष्टिभेद को गंभीरता से समझना चाहिये। शरीर की सजीवता किसकी बदौलत है, उसे और उसके मूल तथा विशुद्ध स्वभाव को नहीं समझने से जीवन विकास का सूत्र हाथ में नहीं आ सकेगा। शरीर की सजीवता आत्मा में निहित होती है, अतः सिर्फ शरीर को देखें और आत्मा को नहीं समझें तो भोग वृत्ति को बढ़ावा मिलता है। जहाँ भोग है, वहाँ स्वार्थ है और स्वार्थ भ्रष्टाचार, अनीति एवं अन्याय का जनक होता है। एक बार भोग में मन रम गया तो उस दलदल से निकलना भी दुष्कर हो जाता है। उस

मूल स्थिति को समझ लें कि स्वार्थ नहीं कटता तो त्याग नहीं आता—त्याग नहीं तो सम्यक्, निर्णय नहीं, समता नहीं और ऐसी स्थिति में वास्तव में जीवन ही कहाँ बनता है ?

व्यामोह, विभ्रम और विकार

आत्मानुभूति के अभाव में अर्थात् चेतना की शिथिल या सुषुप्त अवस्था में दृश्यमान पदार्थों के प्रति ही मानव-मन आसक्त बना रहता है। लोग अपने शरीर या अन्य शरीरों की सुन्दर छवि को देखते नहीं अघाते या धन, सम्पदा, ऐश्वर्य और सत्ता को सिर्फ अपने या अपनों के लिये ही बटोरने की ओर अन्धतापूर्वक झुक जाते हैं। यह क्या है ? इसे ही व्यामोह कहते हैं जो पौद्गलिक पदार्थों पर आसक्ति को बनाये रखता है। तब सदाचार, सहयोग, सद्भावना आदि के मानवीय गुणों की ओर रूचि नहीं जाती अपने भीतर झांकने की संज्ञा तक उसे पैदा नहीं होती। इस व्यामोह का केन्द्र जड़ तत्त्व होता है और जड़ का प्रभाव आत्मा में भी जड़ता ही भरता है।

व्यामोह के विस्तार के कारण एक व्यक्ति यौवन काल में जितना हर्षित होता है, वृद्धावस्था में उतना ही व्यथित भी हो जाता है। कारण शरीर की ओर उसकी दृष्टि होती है, आत्मा की ओर नहीं। आत्मा तो कभी वृद्ध नहीं होती—यदि सम्यक् निर्णायक बुद्धि जागृत रहे तो वह चिरयौवना रहती है।

जहाँ व्यामोह है, वहाँ विभ्रम है। व्यामोह विचार को बिगाड़ता है तो दृष्टि स्वयमेव ही बिगड़ जाती है। पीलिये का रोगी सभी रंगों को पीलेपन में ही देखने लग जाता है। कोई जैसा सोचता और देखता है, वैसा ही करने भी लगता है।

दृष्टि के बाद कृति का बिगाड़ शुरू होता है और विकृति विकार की वाहक बनती है। आपत्ति अकेली नहीं आती और विकृति अकेली नहीं होती। इसका असर तो बांध फूटने जैसा होता है। विकारों का

गन्दा नाला रोक हटते ही तेजी से अन्दर घुसता है और जितनी गन्दगी फैला सकता है, तेजी से फैलाता है। ऐसा तभी होता है जब कार को चलाने वाला अपनी सुधबुध खो बैठता है।

यथाशक्ति सभी निर्णायक हैं

मानव जीवन में ही नहीं, प्रत्येक छोटे-मोटे जीवन में भी यथाविकास निर्णय शक्ति समाई रहती है। जितनी आत्मानुभूति, उतनी निर्णायक शक्ति और जितनी आत्म-जागृति, उतनी ही इस शक्ति में अभिवृद्धि होती जाती है। पशुओं के पास भी यह निर्णायक शक्ति है। पशु तो पंचेन्द्रिय हैं किन्तु चार से लेकर नीचे तक एक इन्द्रिय वाले प्राणी जीवन में भी अपनी विकास स्थिति के अनुसार निर्णायक बुद्धि अवश्य होती है। वनस्पति के एकेन्द्रिय जीवन में भी देखा जाता है कि एक बढ़ता हुआ पौधा भी आने वाली आपदाओं से इधर-उधर झुककर या अन्य उपाय से किस तरह अपनी रक्षा करने का यत्न करता है ?

इसी निर्णायक शक्ति के विकास का पहले प्रश्न है और बाद में उसके सम्यक् विकास की समस्या सामने आती है। जब अन्तर में विकास जागता है तो जीवन-शक्ति का भी उत्थान होता है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवन तक तथा वहाँ से मानव जीवन की उपलब्धि इसी क्रमिक विकास का परिणाम होता है। मानव जीवन में भी यह निर्णायक शक्ति अधिक पुष्ट बने—अधिक सम्यक् बने—इस ओर मनुष्य के ज्ञान, दर्शन और आचरण की गति अग्रसर बननी चाहिये।

निर्णायक शक्ति के मूल की परख

निर्णायक शक्ति की जागृति और प्रगति इस ज्ञान दृष्टि पर आधारित है कि कार के चालक को समझा जाय यानि कि अन्तर के आत्म-तत्व की प्रतीति की जाय। जो "मैं" के मूल को समझ लेता है, वह बाहर

दृश्यमान पदार्थों में अपने 'ममत्व' को भी छोड़ देता है। जहाँ पर ममत्व छूटता है, वहीं से तो निर्णायक ही नहीं, सम्यक् निर्णायक शक्ति का उद्गम होता है। कार का चालक भी यदि ममत्व में पड़ जाय कि मेरे को तो बचाऊँ और जो मेरा नहीं है—उसे कुचल डालूं तो क्या कार की गति स्वस्थ रह सकती है ?

जड़ से मन को हटाकर नियमित एवं संयमित बनाया जाय तो चेतना जागृत होती है—सम्यक् निर्णायक शक्ति जागती है और इसके सजग रहते विषमता का विस्तार संभव नहीं होता। फिर तो जो विषमता होती है, वह भी इस शक्ति के प्रादुर्भाव से निरन्तर नष्ट होती हुई चली जाती है। समता का समरस तब व्यक्ति में और व्यक्ति-व्यक्ति से एक ओर समाज में तो दूसरी ओर समाज के प्रभाव से दुर्बलतर व्यक्तियों में प्रवाहित होने लगता है तथा उस प्रवाह से जीवन के सभी क्षेत्रों में सच्चे सुख का साम्राज्य फैल जाता है।

मूल को एक बार पकड़ लेने पर उसकी शाखा प्रशाखाओं या फूल पत्तों को पा लेना अधिक कठिन नहीं रहेगा। चैतन्य को याने कि स्वयं को अपना शासक बनालें और जड़ को अपने प्रशासन में ले लें तो जहाँ राजनीति, अर्थनीति तथा समाजनीति भी सुधर जायगी वहाँ धर्मनीति भी अपने सहज स्वरूप में सज संवर जायगी।

अपने को देखिये : निर्णय कीजिये

जीवन क्या है ? उसे क्या होना चाहिये ? इन दोनों स्थितियों के अन्तर को जितनी गहराई से देखने एवं समझने का प्रयत्न किया जायगा, उतनी ही निर्णायक शक्ति प्रबुद्ध बनती जायगी। कार कहाँ खड़ी है और वहाँ से उसे कहाँ ले जानी है—जब इसका ज्ञान चालक को होगा तो वह मार्ग के सम्बन्ध में विशेष सजगता से निर्णय ले सकेगा। हो सकता है—पहले उसके निर्णय में भूल रह जाय किन्तु ठोकर खाने के बाद वह गति और प्रगति की निष्ठा से सही मार्ग जरूर खोज निकालेगा।

गन्दा नाला रोक हटते ही तेजी से अन्दर घुसता है और जितनी गन्दगी फैला सकता है, तेजी से फैलाता है। ऐसा तभी होता है जब कार को चलाने वाला अपनी सुधबुध खो बैठता है।

यथाशक्ति सभी निर्णायक हैं

मानव जीवन में ही नहीं, प्रत्येक छोटे-मोटे जीवन में भी यथाविकास निर्णय शक्ति समाई रहती है। जितनी आत्मानुभूति, उतनी निर्णायक शक्ति और जितनी आत्म-जागृति, उतनी ही इस शक्ति में अभिवृद्धि होती जाती है। पशुओं के पास भी यह निर्णायक शक्ति है। पशु तो पंचेन्द्रिय हैं किन्तु चार से लेकर नीचे तक एक इन्द्रिय वाले प्राणी जीवन में भी अपनी विकास स्थिति के अनुसार निर्णायक बुद्धि अवश्य होती है। वनस्पति के एकेन्द्रिय जीवन में भी देखा जाता है कि एक बढ़ता हुआ पौधा भी आने वाली आपदाओं से इधर-उधर झुककर या अन्य उपाय से किस तरह अपनी रक्षा करने का यत्न करता है?

इसी निर्णायक शक्ति के विकास का पहले प्रश्न है और बाद में उसके सम्यक् विकास की समस्या सामने आती है। जब अन्तर में विकास आगता है तो जीवन-शक्ति का भी उत्थान होता है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवन तक तथा वहाँ से मानव जीवन की उपलब्धि इसी क्रमिक विकास का परिणाम होता है। मानव जीवन में भी यह निर्णायक शक्ति अधिक पुष्ट बने—अधिक सम्यक् बने—इस ओर मनुष्य के ज्ञान, दर्शन और आचरण की गति अग्रसर बननी चाहिये।

निर्णायक शक्ति के मूल की परख

निर्णायक शक्ति की जागृति और प्रगति इस ज्ञान दृष्टि पर आधारित है कि कार के चालक को समझा जाय यानि कि अन्तर के आत्म-तत्त्व की प्रतीति ली जाय। जो "मैं" के मूल को समझ लेता है, वह बाहर

दृश्यमान पदार्थों में अपने 'ममत्व' को भी छोड़ देता है। जहाँ पर ममत्व छूटता है, वहीं से तो निर्णायक ही नहीं, सम्यक् निर्णायक शक्ति का उद्गम होता है। कार का चालक भी यदि ममत्व में पड़ जाय कि मेरे को तो बचाऊँ और जो मेरा नहीं है—उसे कुचल डालूं तो क्या कार की गति स्वस्थ रह सकती है?

जड़ से मन को हटाकर नियमित एवं संयमित बनाया जाय तो चेतना जागृत होती है—सम्यक् निर्णायक शक्ति जागती है और इसके समग रहते विषमता का विस्तार संभव नहीं होता। फिर तो जो विषमता होती है, वह भी इस शक्ति के प्रादुर्भाव से निरन्तर नष्ट होती हुई चली जाती है। समता का समरस तब व्यक्ति में और व्यक्ति-व्यक्ति से एक ओर समाज में तो दूसरी ओर समाज के प्रभाव से दुर्बलतर व्यक्तियों में प्रवाहित होने लगता है तथा उस प्रवाह से जीवन के सभी क्षेत्रों में सच्चे सुख का साम्राज्य फैल जाता है।

मूल को एक बार पकड़ लेने पर उसकी शाखा प्रशाखाओं या फूल पत्तों को पा लेना अधिक कठिन नहीं रहेगा। चैतन्य को याने कि स्वयं को अपना शासक बनालें और जड़ को अपने प्रशासन में ले लें तो जहाँ राजनीति, अर्थनीति तथा समाजनीति भी सुधर जायगी वहाँ धर्मनीति भी अपने सहज स्वरूप में सज संवर जायगी।

अपने को देखिये : निर्णय कीजिये

जीवन क्या है? उसे क्या होना चाहिये? इन दोनों स्थितियों के अन्तर को जितनी गहराई से देखने एवं समझने का प्रयत्न किया जायगा, उतनी ही निर्णायक शक्ति प्रबुद्ध बनती जायगी। कार यहाँ खड़ी है और यहाँ से उसे कहाँ ले जानी है—जब इसका ज्ञान चालक को होगा तो वह मार्ग के सम्बन्ध में विशेष सजगता से निर्णय ले सकेगा। हो सकता है—पहले उसके निर्णय में भूल रह जाय किन्तु ठोकर खाने के बाद वह गति और प्रगति की निष्ठा से . . . जरूर खोज निकालेगा।

अपने आपको इस प्रकार भीतर घुसकर देखने से अपने मैले और आदर्श निर्मल स्वरूप का अन्तर समझ में आवेगा और तब निर्णय बुद्धि सजग बनेगी। यह हो सकता है कि पहले यह मिथ्या में भटक जाय—किन्तु चेतना और निष्ठा सुलझी हुई रही तो वह सम्यक् भी अवश्य बन जायगी। उसका यह सम्यक् मोड़ ही समता की ओर जीवन को मोड़ेगा—फिर समता को विचार और आचार में साधना जीवन का धर्म बन जायगी।

जीवन की तब सच्ची परिभाषा प्रकट होगी। जो सम्यक् निर्णायक है और समतामय है—वही जीवन है। शेष जीवन प्राण धारण करते हुए भी इस जागृति के अभाव में मृत के पर्यायवाची ही कहलायेंगे।

समतामय जीवन

समता शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न रूपों में लिया जाता है। वैसे मूल शब्द सम है जिसका अर्थ समान होता है। अब यह समानता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किस-किस रूप में हो—इसका विविध विश्लेषण किया जा सकता है।

सबसे पहले आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता पर सोचें तो अपने मूल स्वरूप की दृष्टि में सारी आत्माएँ समान होती हैं—चाहे वह एकेन्द्रिय याने अविकसित प्राणी की आत्मा हो या सिद्ध भगवान् की पूर्ण विकसित आत्मा। दोनों में वर्तमान समय की जो विषमता है, वह कर्मजन्य है। कुविचारों एवं कुप्रवृत्तियों का मैल अविकसित अवस्था में आत्मा के साथ संलग्न होने से उसका स्वरूप भी मैला हो जाता है और जैसे मैले दर्पण में प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता, उसी तरह मैली आत्मा भी श्रीहीन बनी रहती है। तो आध्यात्मिक समता यह है कि इस मैल को दूर करके आत्मा को अपने मूल निर्मल स्वरूप में पहुँचाई जाय।

एक-एक आत्मा इस तरह समता की ओर मुड़े तो दूसरी ओर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में भी ऐसा समतामय वातावरण बनाया

जाय जिसके प्रभाव से समूहगत समता भी सशक्त बनकर समग्र जीवन को समतामुखी बना दे। राजनीति में समानता, अर्थनीति में समानता और समाजनीति में समानता के जब पग उठाये जायेंगे और उसे अधिक से अधिक वास्तविक रूप दिया जायगा तो समता की द्विधारा बहेगी—भीतर से बाहर और बाहर से भीतर। तब भौतिकता और आध्यात्मिकता संघर्षशील न रहकर एक दूसरे की पूरक बन जायगी जिसका समन्वित रूप जीवन के बाह्य और अन्तर को समतामय बना देगा।

यह परिवर्तन समाजवाद या साम्यवाद से आवे अथवा अन्य विचार के कार्यान्वय से—किन्तु लक्ष्य हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिये कि मानवीय गुणों की अभिवृद्धि के साथ सांसारिक व्यवस्था में अधिकाधिक समता का प्रवेश होना और ऐसी समता का जो मानव-जीवन के आभ्यन्तर को न सिर्फ सन्तुलित रखे, बल्कि उसे संयम-पथ पर चलने के लिये प्रेरित भी करे। धरातल जब समतल और साफ होता है तो कमजोर आदमी भी उस पर ठीक व तेज चाल से चल सकता है, किन्तु इसके विपरीत अगर धरातल उबड़खाबड़ और कंटीला पथरीला हो तो मजबूत आदमी को भी उस पर भारी मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा। व्यक्ति की क्षमता का तालमेल यदि सामाजिक विकास के साथ बैठ जाता है तो व्यक्ति की क्षमता भी कई गुनी बढ़ जाती है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध

यों देखा जाय तो समाज कुछ भी नहीं है व्यक्ति-व्यक्ति मिल कर ही तो समाज की रचना करते हैं, फिर व्यक्ति से विलग समाज का अस्तित्व कहाँ है? किन्तु सभी के अनुभव में आता होगा कि व्यक्ति की शक्ति प्रत्यक्ष दीखती है फिर भी समूह की शक्ति उससे ऊपर होती है जो व्यक्ति की शक्ति को नियंत्रित भी करती है। एक व्यक्ति एक संगठन की स्थापना करता है—उसके नियमोपनियम बनाता है तथा उनके अनुपालन के लिये दंड व्यवस्था भी कायम करता है। एक तरह

से संगठन का वह जनक है, फिर भी क्या वह स्वयं ही नियम-भंग करके दंड से बच सकता है ? यही शक्ति समाज की शक्ति कहलाती है जिसे व्यक्ति स्वेच्छा से वरण करता है। राष्ट्रीय सरकारों के संविधानों में यही परिपाटी होती है।

जब-जब व्यक्ति स्वस्थ धारा से अलग हटकर निरंकुश होने लगता है—शक्ति के मद में झूम कर अनीति पर उतारू होता है, तब-तब यही सामाजिक शक्ति उस पर अंकुश लगाती है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता होगा कि कई बार वह कुकर्म करने का निश्चय करके भी इसी विचार से रुक जाता है कि लोग क्या कहेंगे ? ये लोग चाहे परिवार के हों—पड़ोस के हों—मोहल्ले, गाँव, नगर या देश-विदेश के हों; इन्हें ही समाज मान लीजिये।

व्यक्ति स्वयं से नियंत्रित हो—व्यक्ति समाज से नियंत्रित हो—ये दोनों परिपाटियाँ समता लाने के लिये सक्रिय बनी रहनी चाहिये। यही व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों की सार्थकता होगी कि विषमता को मिटाने के लिये दोनों ही नियंत्रण सुदृढ़ बनें।

समता मानव मन के मूल में है

प्रत्येक मानव अपने जीवन को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिये प्रयास करता है, किन्तु आज की दुविधा यह है कि सभी तरह की विषमताओं के बीच सम्पन्न भी सुखी नहीं, विपन्न भी सुखी नहीं और शान्ति लाभ तो जैसे एक दुष्कर स्थिति बन गई है। इसका कारण यह है कि मानव अपने साध्य को समझने के बाद भी उसके प्रतिकूल साधनों का आश्रय लेकर जब आगे बढ़ता है तो बबूल उगाने से आम कहाँ से फलेगा ?

समता मानव मन के मूल में है—उसे भुला कर जब वह विपरीत दिशा में चलता है तभी दुर्दशा आरम्भ होती है।

एक दृष्टान्त से इस मूल प्रवृत्ति को समझिये। चार व्यक्तियों को एक साथ खाने पर बिठाया गया। पहले की थाली में हलुआ, दूसरे की थाली में लप्सी, तीसरे की थाली में सिर्फ गेहूं की रोटी तो चौथे की थाली में बाजरे की रोटी परोसी गई, तो क्या चारों साथ बैठकर शान्ति-पूर्वक खाना खा सकेंगे? ऊपरवाला नीचे वाले के साथ घमंड से ऐंठेगा तो नीचे वाला भेद-भाव के दर्द से कराहेगा। इसके विरुद्ध सभी की थालियों में केवल बाजरे की रोटी ही हो तो सभी प्रेम से खाना खा लेंगे। इसलिये गहरे जाकर देखें तो पदार्थ मनुष्य के सुख और शान्ति के कारण नहीं होते बल्कि उसके मन की विचारणा ही अधिक सशक्त कारण होती है। समता का व्यवहार करें—ऐसी जागृति होना भी अनिवार्य है।

समता का मूल्यांकन

समता या समानता का कोई यह अर्थ ले कि सभी लोग एक ही विचार के या एक से शरीर के बन जावें अथवा बिल्कुल एक सी ही स्थिति में रखे जावें तो यह न संभव है और न ही व्यावहारिक। एक ही विचार हो तो बिना आदान-प्रदान, चिन्तन और संघर्ष के विचार का विकासशील प्रवाह ही रुक जायगा। इसी तरह आकृति, शरीर अथवा संस्कारों में भी समान-पने की सृष्टि संभव नहीं।

समता का अर्थ है कि पहले समतामय दृष्टि बने तो वही दृष्टि सौम्यतापूर्वक कृति में उतरेगी। इस तरह समता समानता की वाहक बन सकती है। आप ऐसे परिवार को लीजिये, जिसमें पुत्र अर्थ या प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न स्थितियों में हो सकते हैं किन्तु सब पर पिता की जो दृष्टि होगी, वह समतामय होगी। एक अच्छा पिता ऐसा ही करता है। उस समता से समानता भी आ सकेगी।

समता कारण रूप है तो समानता कार्यरूप; क्योंकि समता मन के धरातल पर जन्म लेकर मनुष्य को भावुक बनाती है तो वही भावुकता

फिर मनुष्य के कार्यों पर असर डाल कर उसे समान स्थितियों के निर्माण में सक्रिय सहायता देती है। जीवन में जब समता आती है तो सारे प्राणियों के प्रति समभाव का निर्माण होता है। तब अनुभूति यह होती है कि बाहर का सुख हो या दुःख—दोनों अवस्थाओं में समभाव रहे—यह स्वयं के साथ की स्थिति तो अन्य सभी प्राणियों को आत्म-तुल्य मानकर उनके सुख दु:ख में सहयोगी बनें—यह दूसरों के साथ व्यवहार करने की स्थिति। ये दोनों स्थितियाँ जब पुष्ट बनती हैं तो यह मानना चाहिये कि जीवन समतामय बन रहा है। कारण कि यही पुष्ट भावना आचरण में उतर कर व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति की दोराहों पर विषमता को नष्ट करती हुई समता की सृष्टि करती है।

समता का आविर्भाव कब ?

समता का श्रीगणेश चूंकि मन से होना चाहिये इसलिये मन की दो वृत्तियाँ प्रमुख होती है—राग और द्वेष। ये दोनों विरोधी वृत्तियाँ हैं। जिसे आप चाहते हैं उसके प्रति राग होता है। राग से मोह और पक्षपात जन्म लेता है। जिसे आप नहीं चाहते उसके प्रति द्वेष आता है। द्वेष से कलुष, प्रतिशोध और हिंसा पैदा होती है। ये दोनों वृत्तियाँ मन को चंचल बनाती रहती हैं तथा मनुष्य को स्थिरचित्ती एवं स्थिरधर्मी बनने से रोकती है। चंचलता से विषमता बनती और बढ़ती है। मन विषम तो दृष्टि विषम होगी और उसकी कृति भी विषम होगी।

समता का आविर्भाव अतः तभी संभव होगा जब राग और द्वेष को घटाया जाय। जितनी निरपेक्ष वृत्ति पनपती है, समता संगठित और संस्कारित बनती है। निरपेक्ष दृष्टि में पक्षपात नहीं रहता और जब पक्षपात नहीं है तो वहाँ उचित के प्रति निर्णायक वृत्ति पनपती है तथा गुण और कर्म की दृष्टि से समता अभिवृद्ध होती है। अगर एक पिता के मन में भी एक पुत्र के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष है तो वह

स्थिति समता जीवन की द्योतक नहीं है। मैं सबकी आंखों में प्रफुल्लता देखना चाहूँ—मैं किसी की आंख में आंसू नहीं देखना चाहूँ—ऐसी वृत्ति जब सचेष्ट बनती है तो मानना चाहिये कि उसके मन में समता का आविर्भाव हो रहा है।

बाह्य समानता के लिये प्रयास करने से पूर्व अन्तर की विषमता नहीं मिटाई और कल्पना करलें कि बाहर की विषमता किसी भी बल प्रयोग से एक बार मिटा भी दी गई हो तो भी विषमतामय अन्तर के रहते वह समानता स्थायी नहीं रह सकेगी। एक ध्वजा जो उच्च गगन में वायु-मंडल में लहराती है—उसकी कोई दिशा नहीं होती। जिस दिशा का वायु वेग होता है, वह उधर ही मुड़ जाती है। किन्तु ध्वजा का जो दण्ड या स्तूप होता है, वह सदा स्थिर रहता है। तो समता के विकास के लिये दंड या स्तूप बनने का प्रयास करें जो स्थिर और अटल हो। फिर समता का सूक्ष्मतम विकास होता चला जायगा।

जीवन की कसौटी

'जीवन क्या है' के सूत्र से जीवन की कसौटी का परिचय मिलता है। जड़ और चेतन की स्थिति को समझते हुए राग और द्वेष की भावना से हटकर जब निर्णय शक्ति एवं समता भावना पल्लवित होती है तभी जीवन में एक सार्थक मोड़ आता है। अतः जीवन की कसौटी यह होगी कि किसी को जड़ पदार्थों पर कितना व्यामोह है और चेतन शक्ति के प्रति कितनी क्रियाशील आस्था और निष्ठा है तथा वह मन को कितना स्थिर तथा निरपेक्ष रख सकता है या मन की चंचलता में अपनेपन को भूलकर बाहरी दलदल में फंसा हुआ है? इसी कसौटी पर किसी के जीवन की सजीवता का अंकन किया जा सकता है।

यही कसौटी व्यक्ति के जीवन के लिये और यही कसौटी विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े समूहों के जीवन को आंकने के लिये काम में ली जा सकती है। इस सारी कसौटी को सार रूप में सम और

परिमापित की जा सकती है। जीवन में जितनी विषमता है, वह उतना ही भटका हुआ है और जितनी समता आती है, वह उसके सच्चे मार्ग पर प्रगतिशील होने का संकेत देने वाली होती है।

अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि

समता के दो रूप हैं—दर्शन और व्यवहार। अन्तर के नेत्रों की प्रकाशमय दृष्टि से देखकर जीवन में गति करना समता दर्शन का मुख्य भाव है और यह जो गति है उससे समता के व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट होता है। अतः अन्तर और बाह्य दोनों दृष्टियों से समतापूर्ण जीवन का संचालन करने से सार्थक जीवन की उपलब्धि हो सकती है। दर्शन की गति व्यापक नहीं हो तो व्यवहार में भी एकरूपता नहीं आती है। इसके लिये अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि में सम्यक् समन्वय होना चाहिये।

आप एक मकान को देखते हैं। उसमें कहीं पत्थर होता है, कहीं चूना, सीमेन्ट, लोहा, लकड़ी आदि। फिर भी उसमें रहने या बैठने वालों की स्थिति भी एक सी नहीं होती—अलग-अलग आकृतियाँ, वेश-भूषा आदि। फिर भी यदि अन्तर्दृष्टि में सबके समता आ जाय तो इन विभिन्नताओं के बावजूद सारा समूह एकरूपता की अनुभूति ले सकता है। बाह्य दृष्टि की विषमता इसी भाव एवं विचार समता के दृढ़ आधार पर समाप्त की जा सकती है।

किन्तु जो अन्तर्दृष्टि में शून्य रह कर केवल बाह्य दृष्टि में भटकता है, वह विषमता को ही अधिक बढ़ाता है। समता की साधना एकांगी नहीं, मन, वचन एवं कर्म तीनों के सफल संयोग से की जानी चाहिये तभी बाह्य दृष्टि अपना मार्ग अन्तर्दृष्टि से पूछ कर ही चलेगी। अन्तर्दृष्टि का अनुशासन ही बाह्य दृष्टि पर चलना चाहिये।

जितना भेद, उतनी विषमता

भौतिकता और आध्यात्मिकता में, जड़त्व और चैतन्य शक्ति में अथवा अन्तर और बाह्य दृष्टि में जितना अधिक भेद होगा। उतनी ही विषमता अधिक कटु, कुटिल और कष्टदायक होगी। इनमें जितना समन्वय बढ़ेगा, उतना ही स्वार्थ और मोह घटेगा—परिग्रह के प्रति मूर्छा एवं ममत्व कटेगा तो उतने ही अंशों में सबको समान सुख देने वाली समता की सदाशयता का श्रेष्ठ विकास होगा।

जहाँ भेद है, वहाँ विकार है, पतन है। मन और वाणी में भेद है—वाणी और कर्म में भेद है तो वहाँ विषमता का खेद ही खेद समझिये। जीवन में सच्चे आनन्द का स्रोत समता की तरलता से ही फूट सकेगा। 'तेरे मेरे' की जब दीवारें टूटती है तब अन्तर्मन में जिस विराटता का प्रकाश फैलता है, उसी प्रकाश को समता सुस्थिर, शीतल और सौम्यपूर्ण बनाती है।

जीवन को सच्चा जीवन बनावें

प्राण धारण करना मात्र ही सच्चा जीवन नहीं है—यह तो निर्णयशील एवं समभावी होना चाहिये। "सम्यक् निर्णायकं समतामयं" जीवन की प्राप्ति का लक्ष्य जब अपने सामने रखा जायगा तो मिथ्या धारणायें निर्मूल होंगी तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का निर्मल आलोक चारों ओर फैलेगा। तभी जीवन की कसौटी पर समता का भी सच्चा मूल्यांकन किया जा सकेगा। एक सच्चा जीवन ही कई जीवित मृतों को संज्ञावान् बनाने में सफल हो सकता है तो ऐसी सजीवता का प्रभाव जितना फैलेगा, उतना ही सभी क्षेत्रों में नव-जीवन विकसित होता जायगा।

मनुष्य के मन में और उसके बाहर परिवार से लेकर समूचे संसार में ऐसा नव-जीवन लाने का एक मात्र उपाय है कि सभी तरह की विषमताओं पर घातक आक्रमण किया जाय और समतामय जीवन शैली का विकास साधा जाय।

समता : शान्ति, समृद्धि एवं श्रेष्ठता की प्रतीक

मनुष्य के मन के मूल में रही समता ज्यों २ उभरती जायगी, वह अपने व्यापक प्रभाव के साथ मानव जीवन को भी उबारती जायगी। उसे अशान्ति, दुःखदैन्य एवं निकृष्टता के पक्षपात से बाहर निकाल कर यही समता उसे शान्ति, सर्वांगीण समृद्धि एवं श्रेष्ठता के सांचे में ढालेगी ऐसी ढलान के बाद ही मनुष्य विषमताजन्य पशुता के घेरों से निकल कर आत्मीयतापूर्ण मनुष्यता का स्वामी बन सकेगा। समता शान्ति, समृद्धि एवं श्रेष्ठता की प्रतीक होती है—इसे कभी न भूलें।

o

:३:

समता दर्शन : अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में

समता, साम्यता या समानता मानव जीवन एवं मानव समाज का शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक—सभी का समता लक्ष्य है क्योंकि समता मानव-मन के मूल में है। इसी कारण कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है। जिस प्रकार आत्माएँ मूल में समान होती है किन्तु कर्मों का मैल उनमें विभेद पैदा करता है और जिन्हें संयम और नियम द्वारा समान बनाया जा सकता है, उसी प्रकार समग्र मानव समाज में भी स्वस्थ नियम प्रणाली एवं सुदृढ़ संयम की सहायता से समाजगत समता का भी प्रसारण किया जा सकता है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की मांग भी उतनी ही अधिक गहरी है। काश, कि हम उसे सुन और महसूस कर सकें तथा समता दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार में ढाल सकें। विचार पहले और बाद में उस पर व्यवहार—यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक होता है।

वर्तमान विषमता के मूल में सत्ता व सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेषरूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास में बाधक है। समता ही इसका स्थायी व सर्वजन हितकारी निराकरण है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता, विचार में हो, दृष्टि और वाणी में हो तथा समता, आचरण के प्रत्येक चरण में हो। तब समता, जीवन के अवसरों की प्राप्ति में होगी, सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार में होगी तो वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण में होगी। समता, मनुष्य के मन में तो समता समाज के जीवन में। समता भावना की गहराइयों में तो समता साधना की ऊँचाइयों में। प्रगति के ऐसे उत्कृष्ट स्तरों पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व तो क्या—ईश्वरत्व भी समीप आने लगेगा।

विकासमान समता दर्शन

मानव जीवन गतिशील होता है। उसके मस्तिष्क में नये २ विचारों का उदय होता है। ये विचार प्रकाशित होकर अन्य विचारों को आन्दोलित करते हैं। फिर समाज में विचारों के आदान-प्रदान एवं संघर्ष-समन्वय का क्रम चलता है। इसी विचार मन्थन में से विचार-नवनीत निकालने का कार्य युग-पुरुष किया करते हैं।

कहा जाता है कि समय बलवान होता है। यह सही है कि समय का बल अधिकांशतः लोगों को अपने प्रवाह में बहाता है, किन्तु समय को अपने पीछे करने वाले ये ही युग-पुरुष होते हैं जो युगानुकूल वाणी का उद्घोष करके समय के चक्र को दिशा-दान करते हैं। इन्हीं युगपुरुषों एवं विचारकों के आत्म-दर्शन से समता-दर्शन का विकास होता आया है। इस विकास पर महापुरुषों के चिन्तन की छाप भी है तो समय-प्रवाह की छाप भी। और जब आज हम समता दर्शन पर विचार करें तो यह ध्यान रखने के साथ कि अतीत में महापुरुषों ने इसके सम्बन्ध में अपना

विचार-सार क्या दिया है—यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता होगी कि वर्तमान युग के संदर्भ में और विचारों के नवीन परिप्रेक्ष्य में आज हम समता-दर्शन का किस प्रकार स्वरूप-निर्धारण एवं विश्लेषण करें ?

महावीर की समता-धारा

ऐतिहासिक अध्ययन से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि समता दर्शन का सुगठित एवं मूर्त विचार सबसे पहले भगवान् पार्श्वनाथ एवं महावीर ने दिया। जब मानव समाज विषमता एवं हिंसा के चक्रव्यूह में फंसा तड़प रहा था, तब महावीर न गंभीर चिन्तन के पश्चात् समता दर्शन की जिस पुष्ट धारा का प्रवाह प्रवाहित किया, वह आज भी युगपरिवर्तन के बावजूद प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। इस विचारधारा और उनके बाद जो चिन्तन-धारा चली है—यदि दोनों का सम्यक् विश्लेषण करके आज समता-दर्शन की स्पष्टता ग्रहण की जाय और फिर उसे व्यवहार में उतारा जाय तो निस्सन्देह मानव समाज को सर्वांगीण समता के पथ की ओर मोड़ा जा सकता है।

महावीर ने समता के दोनों पक्षों—दर्शन एवं व्यवहार को समान रूप से स्पष्ट किया तथा वे सिद्धान्त बता कर ही नहीं रह गये किन्तु उन्होंने उन सिद्धान्तों को साथ ही साथ स्वयं क्रियात्मक रूप भी दिया। महावीर के बाद की चिन्तनधारा का सही अध्ययन करने के लिये पहले महावीर की समता धारा को ठीक से समझ लें—यह अधिक उपयुक्त रहेगा और समता दर्शन को आज उसके नवीन परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने में अधिक सुविधा रहेगी।

'सभी आत्माएँ समान हैं' का उद्घोष

महावीर ने समता के मूल बिन्दु को सबसे पहिले पहिचाना और बताया। उन्होंने उद्घोष किया कि सभी आत्माएँ समान है याने कि सभी आत्माओं में अपना सर्वोच्च विकास सम्पादित करने की समान

शक्ति रही हुई है। उस शक्ति को प्रस्फुटित एवं विकसित करने की समस्या अवश्य है किन्तु लक्ष्य प्राप्ति के सम्बन्ध में हताशा या निराशा का कोई कारण नहीं है। इसी विचार ने यह स्थिति स्पष्ट की कि जो आत्मा सो परमात्मा अर्थात् ईश्वर कोई अलग शक्ति नहीं, जो सदा से केवल ईश्वर रूप में ही रही हुई हो बल्कि संसार में रही हुई आत्मा ही अपनी साधना से जब उच्चतम विकास साध लेती है तो वही परम पद पाकर परमात्मा का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वह परमात्मा सर्व शक्तिमान् एवं पूर्ण ज्ञानवान तो होता है किन्तु संसार से उसका कोई सम्बन्ध उस अवस्था में नहीं रहता।

यह क्रान्ति का स्वर महावीर ने गुंजाया कि संसार की रचना ईश्वर नहीं करता और इसे भी उन्होंने मिथ्या बताया कि ऐसे ईश्वर की इच्छा के बिना संसार में एक पत्ता भी नहीं हिलता। संसार की रचना को उन्होंने अनादि कर्म प्रकृति पर आधारित बताकर आत्मीय समता की जो नींव रखी—उस पर समता का प्रासाद खड़ा करना सरल हो गया।

सबसे पहले समदृष्टि

आत्मीय समता की आधारशिला पर महावीर ने सन्देश दिया कि सबसे पहले समदृष्टि बनो। इसे उन्होंने जीवन विकास का मूलाधार बताया। समदृष्टि का शाब्दिक अर्थ है समान नजर रखना, लेकिन इसका गूढ़ार्थ बहुत गंभीर और विचारणीय है।

मनुष्य का मन जबतक सन्तुलित एवं संयमित नहीं होता तबतक वह अपनी विचारणा के घात-प्रतिघातों में टकराता रहता है। उसकी वृत्तियाँ चंचलता के उतार-चढ़ावों में इतनी अस्थिर बनी रहती है कि सद् या असद् का उसे विवेक नहीं रहता। आप जानते है कि मन की चंचलता राग और द्वेष की वृत्तियों से चलायमान रहती है। राग इस छोर पर तो द्वेष उस छोर पर मन को इधर उधर भटकाते है। इससे मनुष्य की दृष्टि विषम बनती है। राग वाला अपना और द्वेष वाला

पराया तो अपने और पराये का जहाँ भेद बनता है वहाँ दृष्टि-भेद रहेगा ही।

महावीर ने इस कारण मानव-मन की चंचलता पर पहली चोट की क्योंकि मन ही तो बन्धन और मुक्ति का मूल कारण होता है। चंचलता राग और द्वेष को हटाने से हटती है और चंचलता हटेगी तो विषमता हटेगी। विषम दृष्टि हटने पर ही समदृष्टि उत्पन्न होगी।

सबसे पहले समदृष्टिपना आवे—यह वांछनीय है क्योंकि समदृष्टि जो बन जायगा तो वह स्वयं तो समता पथ पर आरूढ़ होगा ही किन्तु अपने सम्यग् संसर्ग से वह दूसरों को भी विषमता के चक्रव्यूह से बाहर निकालेगा। इस प्रयास का प्रभाव जितना व्यापक होगा उतना ही व्यक्ति एवं समाज का सभी क्षेत्रों में चलनेवाला व्यवस्था क्रम सही दिशा की ओर परिवर्तित होने लगेगा।

श्रावकत्व एवं साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ

समदृष्टि होना समता के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का समारंभ मात्र है। फिर महावीर ने कठिन क्रियाशीलता का क्रम बनाया। समतामय दृष्टि के बाद समतामय आचरण की पूर्ति के लिये दो स्तरों की रचना की गई।

इसमें पहला स्तर रखा श्रावकत्व का। श्रावक के बारह अणुव्रत बताये गये हैं जिनमें पहले के पांच मूलगुण कहलाते है एवं शेष सात उत्तर गुण। मूल गुणों की रक्षा के निमित्त उत्तर गुणों का निर्धारण माना जाता है। मूल पांच व्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह। अनुरक्षक सात व्रत हैं—दिशा मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अनर्थदंड त्याग, सामायिक, देशावकाशिक, प्रतिपूर्ण पौषध एवं अतिथि-संविभाग व्रत।

श्रावक के जो पांच मूल व्रत हैं—ये ही साधु के पांच महाव्रत हैं। दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्री-

गमन एवं असीमित परिग्रह का त्याग करता है, वहाँ साधु सम्पूर्ण रूप से हिंसा, झूठ, चोरी, मिथुन एवं परिग्रह का त्याग करता है। नीचे का स्तर श्रावक का है तो साधु त्याग की उच्च श्रेणियों में रमण करता हुआ समता दर्शन की सूक्ष्म रीति से साधना करता है। महावीर का मार्ग एक दृष्टि से निवृत्तिप्रधान मार्ग कहलाता है—यह इसलिये कि उनकी शिक्षाएँ मनुष्य को जड़ पदार्थों के स्पर्श व्यामोह से हटाकर चेतना के ज्ञानमय प्रकाश में ले जाना चाहती है। निवृत्ति का विलोम है प्रवृत्ति अर्थात् आन्तरिकता से विस्मृत बनकर बाहर ही बाहर मृगतृष्णा के पीछे भटकते रहना। जहाँ यह भटकाव है, वहाँ स्वार्थ है, विकार है और विषमता है। समता की सीमा रेखा में लाने, बनाये रखने और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से ही श्रावकत्व एवं साधुत्व की उच्चतर श्रेणियाँ निर्मित की गई।

जानने की सार्थकता मानने में है और मानना तभी सफल बनता है जब उसके अनुसार किया जाय। विशिष्ट महत्त्व तो करने का ही है। आचरण ही जीवन को आगे बढ़ाता है—यह अवश्य है कि आचरण अन्धा न हो, विरुद्ध न हो।

विचार और आचार में समता

दृष्टि जब सम होती है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता, विकार नहीं होता और अपेक्षा नहीं होती, तब उसकी नजर में जो आता है वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित। वह निरपेक्ष दृष्टि स्वभाव से देखती है। विचार और आचार में समता का यही अर्थ है कि किसी समस्या पर सोचें अथवा किसी सिद्धान्त पर कार्यान्वय करें तो उस समय समदृष्टि एवं समभाव रहना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि सभी विचारों की एक ही लीक को मानें या एक ही लीक में भेड़ वृत्ति से चलें। व्यक्ति के चिन्तन या कृतित्व स्वातंत्र्य का लोप नहीं होना चाहिये बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता तो सदा उन्मुक्त रहनी चाहिये।

समदृष्टि एवं समभाव के साथ बड़े से बड़े समूह का भी चिन्तन या आचरण होगा तो समता का यह रूप उसमें दिखाई देगा कि सभी एक दूसरे की हितचिन्ता में निरत हैं और कोई भी ममत्व या मूर्छा का मारा नहीं है। निरपेक्ष चिन्तन का फल विचार समता में ही प्रकट होगा, किन्तु यदि उस चिन्तन के साथ दंभ, हठवाद अथवा यशलिप्सा जुड़ जाय तो वह विचार संघर्षशील बनता है। ऐसे संघर्ष का निवारक महावीर का सिद्धान्त है अनेकान्तवाद या सापेक्षवाद – जिसका अर्थ है कि प्रत्येक विचार में कुछ न कुछ सत्यांश होता है और अपेक्षा से भी सत्यांश होता है तो अंशों को जोड़कर पूर्ण सत्य से साक्षात्कार करने का यत्न किया जाय। यह विचार संघर्ष से हटकर विचार समन्वय का मार्ग है ताकि प्रत्येक विचार की अच्छाई को ग्रहण कर लें।

आचार समता के लिये पांचों मूल व्रत हैं। मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार इन व्रतों की आराधना में आगे बढ़ता रहे तो स्वार्थ-संघर्ष मिट सकता है। परिग्रह का मोह छोड़ें या घटावें और राग द्वेष की वृत्तियों को हटावें तो हिंसा छूटेगी ही—चोरी और झूठ भी छूटेगा तथा काम-वासना की प्रबलता भी मिटेगी। सार रूप में महावीर की समताधारा विचारों और स्वार्थों के संघर्ष को मिटाने में सशक्त है, बशर्ते कि उस धारा में अवगाहन किया जाय।

चतुर्विध संघ एवं समता

महावीर ने इस समता दर्शन को व्यवहारिक बनाने के लिये जिस चतुर्विध संघ की स्थापना की, उसकी आधारशिला भी इसी समता पर रखी गई। इस संघ में साधु, साध्वी, श्रावक, एवं श्राविका वर्ग का समावेश किया गया। साधना के स्तरों में अन्तर होने पर भी दिशा एक ही होने से श्रावक एवं साधु वर्ग को एक साथ संघ-बद्ध किया गया। दूसरी ओर उन्होंने लिंग भेद भी नहीं किया—साध्वी और श्राविका

को साधु एवं श्रावक वर्ग की श्रेणी में ही रखा। जाति भेद के तो महावीर मूलतः ही विरोधी थे। इस प्रकार महावीर के चतुर्विध संघ का मूलाधार ही समता है। दर्शन और व्यवहार के दोनों पक्षों में समता को मूर्त रूप देने का जितना श्रेय महावीर को है, उतना संभवतः किसी अन्य को नहीं दिया जा सकेगा।

समता दर्शन का नवीन परिप्रेक्ष्य

युग बदलता है तो परिस्थितियाँ बदलती हैं। व्यक्तियों के सहजीवन की प्रणालियाँ बदलती हैं तो उनके विचार और आचार के तौर-तरीकों में तदनुसार परिवर्तन आता है। यह सही है कि शाश्वत तत्त्व में एवं मूल शर्तों में परिवर्तन नहीं होता। सत्य ग्राह्य है तो वह हमेशा ग्राह्य ही रहेगा, किन्तु सत्य प्रकाशन के रूपों में युगानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मानव समाज स्थगित नहीं रहता बल्कि निरन्तर गति करता रहता है तो गति का अर्थ होता है एक स्थान पर टिके नहीं रहना और एक स्थान पर टिके नहीं रहे तो परिस्थितियों का परिवर्तन अवश्यंभावी है।

मनुष्य एक चिन्तक और विवेकशील प्राणी होता है। वह प्रगति भी करता है तो विगति भी। किन्तु यह सत्य है कि वह गति अवश्य करता है। इसी गति चक्र में परिप्रेक्ष्य भी बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्त्व या पदार्थ को कल देखा था—शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज उसे कुछ भिन्न कोण से देखे और कोण भी तो देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते हैं। अतः स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को भी समझा जाय तथा परिवर्तन के प्रवाह में शाश्वतता तथा मूल शर्तों को कदापि विस्मृत न होने दिया जाय। दोनों का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर होता है।

इसी दृष्टिकोण से समता दर्शन को भी आज हमें उसके नवीन परिप्रेक्ष्य में देखने एवं उसके आधार पर अपनी आचरण विधि निर्धारित करने में अवश्य ही जिज्ञासा रखनी चाहिये। इस अध्याय में आगे इस जिज्ञासा से विचार किया जा रहा है।

वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक शक्ति का उभार

वैज्ञानिक साधनों के विकास ने मानव जीवन की चली आ रही परम्परा में एक अचिन्तनीय क्रान्ति की है। व्यक्ति की जान पहिचान का दायरा जो पहले बहुत छोटा था—समय एवं दूरी पर विज्ञान की विजय ने उसे अत्यधिक विस्तृत बना दिया है। आम साधारण से साधारण व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष परिचय काफी बढ़ गया है तो रेडियो, टेलीवीजन एवं समाचार पत्रों के माध्यम से उसकी जानकारी का क्षेत्र तो समूचे ज्ञात विश्व तक फैल गया है।

इस विस्तृत परिचय ने व्यक्ति को अधिकाधिक सामाजिक बनाया क्योंकि उपयोगी पदार्थों के विस्तार से उसका एकावलम्बन टूट सा गया—समाज का अवलम्बन पग २ पर आवश्यक हो गया। अधिक परिचय से अधिक सम्पर्क और अधिक सामाजिकता फैलने लगी। सामाजिकता के प्रसार का अर्थ हुआ सामाजिक शक्ति का नया उभार।

तबतक व्यक्ति का प्रभाव अधिक था समाज का सामूहिक शक्ति के रूप में प्रभाव नगण्य था। अतः व्यक्ति की सर्वोच्च प्रतिभा से ही सारे समाज को किसी प्रकार का मार्ग दर्शन संभव था। तब राजनीति और अर्थनीति की धुरि भी व्यक्ति के ही चारो ओर घूमती थी। राजतन्त्र का प्रचलन था और राजा ईश्वर का रूप समझा जाता था। उसकी इच्छा का पालन ही कानून था। अर्थनीति भी राजा के आश्रय में ही चलती थी।

वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक शक्ति के उभारने तब परिवर्तन के चक्र को तेजी से घुमाना शुरू किया।

राजनीतिक एवं आर्थिक समता की ओर

आधुनिक इतिहास का यह बहुत लम्बा अध्याय है कि किस प्रकार विभिन्न देशों में जनता को राजतंत्र से कठिन और बलिदानी लड़ाइयां लड़नी पड़ी तथा दीर्घ संघर्ष के बाद अलग २ देशों में अलग २ समय में वह राजतंत्र की निरंकुशता से मुक्त हो सकी। इस मुक्ति के साथ ही लोकतंत्र का इतिहास प्रारंभ होता है। जनता की इच्छा का बल प्रकट होने लगा और जन प्रतिनिध्यात्मक सरकारों की रचना शुरू हुई। इसके आधार पर संसदीय लोकतंत्र की नींव पड़ी।

लोकतंत्र की जो छोटी सी व्याख्या की गई है कि वह तंत्र जो जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिये हो—इस स्थिति को प्रकट करती है कि एक व्यक्ति की इच्छा नहीं, बल्कि समूह की इच्छा प्रभावशील होगी। व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी तथा एक ही व्यक्ति एक बार अच्छा हो सकता है तो दूसरी बार बुरा भी—अतः एक व्यक्ति की इच्छा पर अगणित व्यक्ति निर्भर रहें—यह समता की दृष्टि से न्यायोचित नहीं माना जाने लगा। समूह की इच्छा यकायक नहीं बदलती और न ही अनुचित की ओर आसानी से जा सकती है, अतः समूह की इच्छा को प्रमुखता देने का प्रयत्न ही लोकतंत्र के रूप में सामने आया।

लोकतंत्र के रूप में राजनीतिक समानता की स्थापना हुई कि छोटे बड़े प्रत्येक नागरिक को एक मत समान रूप से देने का अधिकार है और बहुमत मिलाकर अपने प्रतिनिधि का चुनाव किया जाय। यह पक्ष अलग है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के वशीभूत होकर किस प्रकार अच्छी से अच्छी व्यवस्था को भी तहस-नहस कर सकते हैं, किन्तु लोकतंत्र का ध्येय यही है कि सर्वजन हित एवं सर्वजन साम्य के लिये व्यक्ति की उद्दाम कामनाओं पर नियंत्रण रखा जाय।

चिन्तन की प्रगति के साथ इसी ध्येय को आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में भी सफल बनाने के प्रयास प्रारंभ हुए। इन प्रयासों ने मनुष्यगत आर्थिक विषमता पर करारी चोटें की और जिन सामाजिक सिद्धान्तों

का निर्माण किया, उनमें समाजवाद एवं साम्यवाद प्रमुख हैं। इन सिद्धान्तों का विकास भी धीरे २ हुआ और कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के रूप में इस युग में एक पूरा जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया। युग अलग २ था, किन्तु क्रान्ति की जो धारा अपरिग्रह के रूप में महावीर ने प्रवाहित की वैचारिक दृष्टि से कार्ल मार्क्स पर भी उसका कुछ प्रभाव था। कार्ल मार्क्स को भी यही तड़प थी कि यह अर्थ व्यक्तिगत स्वामित्व के बन्धनों से छूट कर जन-जन के कल्याण का साधन बन सके। व्यक्तिगत स्वामित्व के छूटने का अर्थ होगा परिग्रह का ममत्व छूटना। सम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व को स्थापना से धनलोलुपता नहीं रहती है। मानवता प्रमुख रहे और धन उसके साधन रूप में गौण स्थान पर—यह साम्यवाद का लक्ष्य मार्क्स ने बताया कि एक परिवार को तरह सारे समाज में आर्थिक एवं सामाजिक समानता का प्रसार होना चाहिये।

अर्थ का अर्थ और अर्थ का अनर्थ

सामाजिक जीवन के वैज्ञानिक विकास की ओर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि इस प्रक्रिया में अर्थ का भारी प्रभाव रहा है। जिस वर्ग के हाथों में अर्थ का नियंत्रण रहा, उसी के हाथों में सारे समाज की सत्ता सिमटी रही बल्कि यों कहना चाहिये कि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में समता प्राप्त करने के जो प्रयत्न चले अथवा कि जो प्रयत्न सफल भी हो गये—अर्थ की सत्ता वालों ने उन्हें नष्ट कर दिया। आज भी इसी अर्थ के अनर्थ रूप जगह-जगह लोकतन्त्र को अथवा साम्यवाद तक की प्रक्रियाएँ भी दूषित बनाई जा रही हैं।

सम्पत्ति के अनुभाव का उदय तब हुआ माना जाता है जब मनुष्य का प्रकृति का निश्चालिस आश्रय छूट गया और उसे अर्जन के कर्मक्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा। जिसके हाथ में अर्जन एवं संचय का सूत्र रहा—सत्ता का सूत्र भी उसीने पकड़ा। आधुनिक युग में पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद तक की गति इसी परिपाटी पर चली जो व्यक्तिवादी नियन्त्रण पर

समता दर्शन का नया प्रकाश

सत्यांशों के संचय से समता दर्शन का जो सत्य हमारे सामने प्रकट होता है—उसे यथा-शक्ति यथासाध्य सबके समक्ष प्रस्तुत करने का नम्र प्रयास यहाँ किया जा रहा है। यह युगानुकूल समता दर्शन का नया प्रकाश फैला कर प्रेरणा एवं रचना की नई अनुभूतियों को सजग बना सकेगा।

समता दर्शन को अपने नवीन एवं सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में समझने के लिये उसके निम्न चार सोपान बनाये गये हैं :—

१—सिद्धान्त-दर्शन

मानव ही नहीं, प्राणी समाज से सम्बन्धित सभी क्षेत्रों में यथार्थ दृष्टि, वस्तुस्वरूप, उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान एवं सम्यक्, सर्वांगीण व सम्पूर्ण चरम विकास की साधना समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस पहले सोपान पर पहले सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है।

२—जीवन-दर्शन

सबके लिये एक व एक के लिये सब तथा जीओ व जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तों तथा संयम नियमों को स्वयं के व समाज के जीवन मे आचरित करना समता का जीवन्त दर्शन करना होगा।

३—आत्म-दर्शन

समतापूर्ण आचार की पृष्ठभूमि पर जिस प्रकाश स्वरूप चेतना का आविर्भाव होगा, उसे सतत व सत्साधना पूर्ण सेवा तथा तथा स्वानुभूति

के बल पर पुष्ट करते हुए वसुधैव कुटुम्बकम् की व्यापक भावना में आत्म-विसर्जित हो जाना समता का उन्नायक चरण होगा।

४—परमात्मा-दर्शन

आत्म विसर्जन के बाद प्रकाश में प्रकाश के समान मिल जाने की यह परम स्थिति है। तब मनुष्य न केवल एक आत्मा अपितु सारे प्राणी समाज को अपनी सेवा व समता की परिधि में अन्तर्निहित कर लेने के कारण उज्ज्वलतम स्वरूप प्राप्त करके स्वयं परमात्मा हो जाता है। आत्मा का परम स्वरूप ही समता का चरम स्वरूप होता है।

इन चार सोपानों पर गहन विचार से समता दर्शन की श्रेष्ठता अनुभूत हो सकेगी और इस अनुभूति के बाद ही व्यवहार की रूप-रेखा सरलतापूर्वक हृदयंगम की जा सकेगी।

●

:४:

पहला सोपान: सिद्धान्त-दर्शन

ज्ञान और चिन्तन आचरण की आधारशिलाएँ होती हैं। आधार-शिलाएँ सुदृढ़ हुई तो भवन का निर्माण भी सुदृढ़ होगा। शिलाएँ कच्ची हुई या ठीक तरह से नहीं जमी और उस पर यदि निर्माण कार्य कराया जायगा तो उस निर्माण की सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं होगी। इसी कारण सिद्धान्त क्या है, उसकी गंभीरता एवं सक्षमता क्या है—उसका ज्ञान एवं उसकी परीक्षा पहले आवश्यक होती है।

ज्ञान वह जो इन्द्रियों व मन के संसर्ग से जाना जाता है, किन्तु जो कुछ भी इस तरह जाना जाता है वह सब कुछ सही ज्ञान नहीं होता। अच्छे का भी इस तरह ज्ञान होता है और बुरे का भी—इसलिये ज्ञान के साथ चिन्तन का महत्त्व है। चिन्तन ज्ञान की छलनी होती है जो सार रूप को रोक कर कचरे को बाहर फेंक देता है। चिन्तन के बिना ज्ञान की श्रेष्ठता प्रकाशित नहीं होती है तो स्वयं की अवधारणा भी पुष्ट नहीं बनती है। जानने और मानने की कड़ियों को जोड़ने वाला चिन्तन ही होता है।

चिन्तन मनुष्य के मन का उन्नायक भी होता है। चिन्तक का मन जो कुछ जानता है, उस पर अपनी कसौटी से सोचता है, तब उस ज्ञान की उपादेयता पर उसकी जो निष्ठा जमती है, वह सुदृढ़ एवं स्थायी

होती है। चाहे कितने ही बड़े आदमी ने एक बात कही हो और हकीकत में वह बात कितनी ही अच्छी भी हो, लेकिन अगर उसे मन्द दिमाग से मानने की शिक्षा दी गई तो वह मानना खुद की समझ पर टिका न होने से लम्बा नहीं टिकेगा। दूसरे के जाने हुए को भी स्वयं जानना—यह चिन्तन की प्रक्रिया होती है।

चिन्तन ज्ञान की कसौटी

ज्ञान जितना मन की गहरी परतों में उतरता जायगा, उतना ही उसका वैशिष्ट्य भी प्रकट होता जायगा। जो कुछ जाना है, वह सही है या नहीं—उसकी सबसे बड़ी कसौटी शुद्धात्मानुभूति ही होती है और आत्मानुभूति को सजग एवं सक्षम बनाने का मार्ग चिन्तन का मार्ग है। जो चिन्तन में रमता है, निश्चित मानिये कि वह सतत जागृत भी रहता है।

समता के सिद्धान्त के संदर्भ में ज्ञान और चिन्तन की मीमांसा पर विशेष बल दिया जाय तो यह सर्वथा उपयुक्त होगा। यहां समता के दर्शन एवं व्यवहार पर प्रकाश डाला जा रहा है और इसे पढ़कर बिना उसे अपने चिन्तन की कसौटी पर कसे ही अन्धानुकरण से जान लें, मान लें और तदनुसार करना भी शुरू कर दें तब भी उसके आचरण को स्वस्थ नहीं कहा जा सकेगा। अनजाने में कोई दूध भी पीले तो उससे भी वांछित लाभ नहीं मिलेगा क्योंकि जो मानसिक बल उस लाभ की प्राप्ति के लिये तैयार होना चाहिये उसका वहां नितान्त अभाव होगा। जहां मानसिक बल नहीं, वह कितनी दूर तक चल सकेगा—इसका कोई भरोसा नहीं और आधे रास्ते चलकर वहां से वह भटक जाय तो यह और भी बुरा होगा।

अतः अभिप्राय यह है कि यहाँ समता के जिस सिद्धान्त दर्शन पर प्रकाश डाला जा रहा है, उसे जानें और तभी मानें जब चिन्तन की

कसौटी पर उसे कसकर आप उसे खरा जान लें। इस प्रक्रिया के बाद आपकी आचरण की जो क्रिया होगी, वह अटल होगी। तब आपका मन मंजिल पर पहुंच कर ही मानेगा।

समता का सैद्धान्तिक स्वरूप

कहावत है कि किसी भी शुभ का समारम्भ स्वयं से होना चाहिये और समता भी अपने से शुरू होनी चाहिये। पहले हम मन को सम बनायें—सम सोचें, सम जानें, सम मानें, सम देखें, और सम करें। सम का अर्थ समाम और समान यामे सन्तुलित। एक तुला होती है—उसके दोनों पल्ड़े जब बराबर होते हैं तो उसे सन्तुलित कहा जाता है। वह तुला बराबर तोल रही है तब उसका कांटा ठीक बीचोबीच होता है। उसी तरह जब मन का कांटा भेद को छोड़ कर केन्द्रित रहता हुआ वस्तु स्थिति को देखता है—उस पर सोचता है और तब तदनुकूल करने का निर्णय लेता है—उस मन को ही सन्तुलित कहा जायगा।

सन्तुलन के लिये संयम आवश्यक होता है। अपने हित पर चोट भी पड़े किन्तु मन का सन्तुलन न बिगड़े—यह काम संयम करता है। संयम से सम किसी भी स्तर पर टूटता नहीं है। कारण कि जहाँ सम टूटा, विषमता मद्‌भूर बन, मन पर टूट पड़ती है—स्वार्थ, भोग और विकार उसे तुरन्त घेर लेते हैं—फिर उस भंवर से मन को निकालना दुष्कर हो जाता है। अतः एक बार साधे गये सम की सुरक्षा भी अति महत्व की होती है।

संयम के कल्पतरु पर अमर फल लगता है त्याग का। त्याग याने छोड़ना और यह छोड़ना अविचारपूर्ण या निष्कारण नहीं। समता लाने और उसे फैलाने के विशाल प्रयोजन के हित जो जीवन में देना सीख जाता है—छोड़ने में आनन्द अनुभव करने लग जाता है तो वह अपनी कर्मठ शक्ति को भी पहिचानने लग जाता है। त्याग निरपेक्ष दृष्टि देता है तो निष्काम कर्म की प्रेरणा। जहाँ त्याग आ जाता है, वहाँ विषमता छू भी नहीं सकेगी।

समता सिद्धान्त की मूल प्रेरणा

समता सिद्धान्त की मूल प्रेरणा का स्रोत त्याग को मानना होगा। भारतीय संस्कृति में सदा ही त्याग को इसी कारण सर्वाधिक महत्ता मिली है और इसी त्याग के तेज पर ही 'वसुधैव' कुटुम्बकम् के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जा सका था। हृदय की उदारता त्याग पर ही टिकी रह सकती है।

भोग और त्याग—इन दो स्थितियों में समग्र जीवन का चित्र अंकित किया जा सकता है जो जीवन को भोग मात्र के लिये मानता है, वह अपनी चेतना से हटकर शरीर में बधता है, परिग्रह की मूर्छा में बंधता है और जड़ग्रस्त बनता है। भोग इस तरह स्वार्थ को जन्म देता है। स्वार्थ अन्धा होता है - वह अपने ही को याद रखता है—दूसरों को भुला देता है। स्वार्थ राग द्वेष की वृत्तियों को पैदा ही नहीं करता, उन्हें चिकनी बनाता रहता है। जहाँ राग द्वेष है—स्वार्थ है—वहाँ कौन सा विकार डेरा नहीं डालता? भोग है तो विषय-वासना है, राग द्वेष है तो क्रोध मान, माया, लोभ है और जहाँ यह कुविचारो चौकड़ी है, वहाँ अनीति, अन्याय एवं अत्याचार का कोई ऐसा अनर्थ नहीं—जिसे भोगी मनुष्य करने हिचकिचाए। यही भोग-वृत्ति जब समाज और राष्ट्र को आच्छादित करती है, तब शोषण और दमन के दौर चलते है—हिंसात्मक आक्रमण एवं युद्ध होते हैं—तब मनुष्यता मनुष्य ही के रक्त से नहाकर पैशाचिकता का अपरूप धारण करती है।

त्याग इस वास्ते समता सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु है - इतना महत्व-पूर्ण कि किंचित् मात्र इससे हटे कि समझिये आपने विषमता को न्यौता दे डाला। समता की साधना के समय विचार एवं कार्य-दृष्टि निरन्तर इस केन्द्र बिन्दु पर लगी रहनी चाहिये।

जितना त्याग : उतनी समता

जितना त्याग : उतनी समता और जितना भोग, उतनी विषमता। त्याग कितना—इसकी कोई सीमा नहीं होती। एक दुःखी प्राणी को

देख कर पांच पैसे की सहायता करता है तो कोई दूसरा उसके दुःख का निवारण करने के लिये अपने अमूल्य जीवन का भी उत्सर्ग कर देता है। किस कारण के लिये कितना त्याग किया जा सकता है—यह अन्तःप्रेरणा की वस्तु-स्थिति होती है, किन्तु मूल आवश्यकता यह है कि अन्तःकरण में त्याग की अटूट निष्ठा बने।

'मैं किसी भी दूसरे प्राणी के हित पर कतई आघात न करूँ'—यह सामान्य निष्ठा हुई, लेकिन 'मैं दूसरों के हितों की रक्षा के लिये अपने हितों को भी छोड़ दूँ'—यह त्याग की विशेष निष्ठा होगी। जहाँ जैसी स्थिति हो, वहाँ उस रूप में यदि यह निष्ठा बनी रहे तो आप लाख सोचकर भी वह जगह नहीं बता पायेंगे, जहाँ किसी भी प्रकार का कोई संघर्ष पैदा हो सके। ताली कहते हैं, दोनों हाथों से बजती है, एक से नहीं। जहाँ एक व्यक्ति ताली से अपना हाथ सरका ले, वहाँ ताली नहीं बजेगी यह तो सही है ही, लेकिन जिसको मजबूरी से ताली नहीं बजी है वह भी पहले व्यक्ति से प्रेरणा लेने की बात सोचेगा। इसी तरह संघर्ष मिटता जायगा, विषमता हटती जायगी और समता फलती व फूलती जायगी।

समता सदन के प्रमुख सिद्धान्त स्तंभ

:१:

आत्माओं की समता—मूल स्वरूप
में एवं विकास के चरम में

मनुष्य को सबसे पहले यह स्थिति-ज्ञान हो जाना चाहिये कि वह क्षुद्र या हीन नहीं है, जो विकास के ऊँचे से ऊँचे स्तर तक न पहुँच सके। आत्माएँ अपने मूल स्वरूप में सभी समान होती हैं—जो अन्तर है वह अन्तर मिटाया जा सकता है। एक अंगारा खुला पड़ा है—उसकी लाल-लाल ज्योति चमकती है। उस पर जितने अंश में राख पड़ती जायगी, उसकी ज्योति मन्दी होती जायगी, किन्तु ज्यों ही उसे हवा के

झोंके की सहायता मिलेगी और उसकी राख जिस परिमाण में उस पर से हटेगी, उसकी वह ज्योति फिर से चमकती भी जायगी।

आत्मा का अनन्त ज्ञान एवं अनन्त शक्ति जो ईश्वरत्व के रूप में फूट कर प्रदीप्त बनती है, वही प्रदीप्तता प्रत्येक आत्मा में समाई हुई है, किन्तु कुकर्मों की राख सांसारिक आत्माओं पर छाई होने से जो तेज प्रकट होना चाहिये, वह दबा रहता है। यों कह दें कि आत्मीय समता को निखारने के लिये सत्कर्मों की ऐसी हवा बहाई जाय कि अंगारे पर जमी राख उड़ जाय और उसकी ज्योति अपनी पूरी चमक के साथ प्रकाशित हो जाय।

इस सिद्धान्त से कर्मण्यता की अनुभूति जागृत होनी चाहिये। किसी भी आत्मा में ऐसी कोई विशिष्टता नहीं है जो अन्य आत्मा में प्राप्य न हो। सभी आत्माओं में समान शक्ति निहित है तथा उस छिपी हुई शक्ति को प्रकट कर सकने का पराक्रम भी सब में समान रूप से रहा हुआ है। अब जो जितना पराक्रम दिखाता है, वैसी प्राप्ति उसे हो जाती है। ईश्वरत्व तक पहुँचने के द्वार सबके लिये समान रूप से खुले हुए हैं और साधना के कठिन मार्ग पर होकर कोई भी उसमें प्रवेश कर सकता है। इस मान्यता से कर्मठता की भावना जागती है।

समता का पहला सिद्धान्त यह हुआ कि सभी आत्माओं के लिये अपना चरम विकास तक सम्पादित करने में अवसर की समानता है—कोई विषम या विभेदपूर्ण स्थिति नहीं है। जो भी ज्ञान और क्रिया के सच्चे रास्ते पर आगे बढ़ेगा, उस पर निरपेक्ष भाव से अपना पराक्रम दिखायेगा, वह स्वयं समता पाएगा और बाहर समता फैलाएगा।

:२:

दुर्भावना, दुर्वचन एवं दुष्प्रवृत्ति का परित्याग

आत्मीय समता की उपलब्धि हेतु समस्वभाव का निर्माण होना चाहिये। स्वभाव की विषमता चारों ओर विषम वातावरण बनाने लगती है। स्वभाव को ढालने का अर्थ है मन, वाणी एवं कर्म को

वासना। किसी का सोचना, बोलना और करना उसके अपने भावों को व्यक्त करता है। यदि इन तीनों में किसी की समानता है तो माना जाता है कि वह भद्र पुरुष है जब यह समानता भी अच्छाई की दिशा में बढ़ाने वाली हो। दूसरी ओर कोई सोचे क्या, बतावे क्या और करे क्या—उस पर सहज ही कोई विश्वास नहीं करता तथा उसे धूर्त पुरुष कहा जाता है तथा इन तीनों के विभेद से बुराई तो फूटती ही है।

मन, वाणी, एवं कर्म की समता तो अभीष्ट है ही, किन्तु इस समता के साथ इन तीनों के साथ लगे 'दु' को धो डालना होता है। किसी के प्रति बुरा विचार ही पैदा न हो—किसी को बुरा लगे वैसा वचन मुँह से नहीं निकले और किसी के मन, वचन एवं कार्य को चोट पहुँचाने वाला कोई भी कार्य हमसे नहीं हो तो न कहीं संघर्ष की स्थिति होगी, न किसी भी अंश में विषमता पैदा होगी। मन, वाणी एवं कर्म की समता एवं शुद्धता सभी स्थानों पर—चाहे वह परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व हो-सबमें सद्‌भावना ही उत्पन्न करेगी। यह संयुक्त सद्‌भावना ही स्थायी समता का वातावरण बनाती है।

मनुष्य भी आहार, निद्रा, भय व मैथुन की दृष्टि से एक पशु ही है किन्तु अन्य पशुओं से उसमें जो विशेषता है वह उसके विवेक की है, उसकी भावना की है। मस्तिष्क एवं हृदय की गतिशीलता ही मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाती है, मनुष्यता में रमाती है तो देवत्व के दर्शन भी कराती है। मानव शरीर अवश्य भोजन पर चलता है किन्तु मानव जीवन मुख्यतः भावना पर चलता है। जितना वह भावनाशील बनता है, उसके मन, वचन एवं कर्म का विवेक जागता है और ज्यों २ उसकी भावना सरणियाँ उन्नत बनती हैं, समता की स्थितियाँ सुगठित होती जाती है। भावनाशून्य मनुष्य का जीवन पशुवत् ही माना जाता है।

भावना ही वह शक्ति है जो मनुष्य के 'दु' को धोकर उसे सत्साधना में कर्मनिष्ठ बनाती है एवं 'सु' से विभूषित कर देती है। यह 'सु' ही समता का वाहक होता है।

:३:

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारना

समता सिद्धान्त की यह प्रमुख मान्यता है कि संसार के सभी मनुष्य बल्कि सभी प्राणी अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं तथा कोई चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, किसी दूसरे के अस्तित्व को मिटाने का उसे कोई अधिकार नहीं है, बल्कि उसका कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को प्रत्येक के स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा में नियोजित करे। समान कर्मण्यता, समान श्रेष्ठता एवं समान हार्दिकता का स्पर्श दुर्बल जीवन में भी प्राण भरेगा और उसकी सर्वाङ्गीण शक्ति को उभारेगा।

"जीओ और जीने दो"—का सिद्धान्त इसीकी प्रतिकृति है कि प्रत्येक जीवन अपने संचरण को इतना सीमित एवं मर्यादित रखे कि वह कहीं भी अन्य जीवन के साथ संघर्ष में न आवे तथा सबको 'आत्मवत्' समझे। तब विचार एवं आचार में समता के सूत्र सब ओर फैलने लगते हैं। 'अपनी आत्मा जैसी ही सबकी आत्मा' का अनुभाव जब पैदा होता है तो वह मनुष्य अपने दायित्वों के प्रति सावधान बन जाता है तथा सभी जीवधारियों के प्रति स्नेहिल एवं मृदु हो जाता है। सबके प्रति समान रूप से स्नेह की वर्षा करने में ही समता की तरल सार्थकता बनती है।

समस्त प्राणी वर्ग का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकारने में मनुष्य के समूचे जीवन में एक समतामय परिवर्तन आता है जो सारी जीवन-विधा को बदल देता है। ऐसे व्यक्ति में दंभ या हठवाद नहीं जागता और उसके विचार से विनम्रता कभी नहीं छूटती, क्योंकि वह यह कभी नहीं मानता कि मैं ही सब कुछ हूँ। सबके प्रति समादर उसे सबके सुख-दुःख का सहभागी बनाता है तो दूसरी ओर उसके सद्गुणों का प्रभाव अधिक से अधिक विस्तृत बन कर समूचे वातावरण को समता के रंग में रंगने लगता है।

कम होगा जिसके प्रभाव से विषमता की दीवारें खुद-ब खुद ढहती जायगी और उनके स्थान पर समता का सुखद सदन निर्मित होता जायगा। यह संपरित्याग अर्थलोलुप परम्पराओं को बदलेगा—वितृष्णाजन्य वृत्तियों को बदलेगा तो जीवन में सरसता की नई शक्तियों का उदय भी करेगा। समाज की आर्थिक व्यवस्था सम बन जाती है तो सही मानिए कि व्यक्ति व्यक्ति का चरित्र भी नई प्रगतिशील करवट ले सकेगा। यह कार्य संपरित्याग की आस्था से अधिक सहज बन जायगा।

:६:

गुण-कर्म के आधार पर
श्रेणी विभाग में विश्वास—

जब अर्थ-परिग्रह को मानव जीवन एवं मानव समाज के शीर्षस्थ स्थान से नीचे हटा दिया जायगा और जब मानवता उसे अपने नियंत्रण में ले लेगी, तब समाज का आज का अर्थप्रधान ढांचा पूरे तौर पर बदल जायगा। राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समता के परिवेश में तब धन-सम्पत्ति के आधार पर श्रेणी विभाग नहीं होगा बल्कि गुण व कर्म के आधार पर समाज का श्रेणी विभाजन होगा। वह विभाजन भी मानवता का तिरस्कार करने वाला नहीं, बल्कि समता के लक्ष्य की ओर बढ़ाने के लिये स्वस्थ होड़ का अवसर देनेवाला होगा। अर्थ के नियंत्रण में जबतक चेतन रहता है तब तक वितृष्णा के वशीभूत होकर जड़वत् बना रहता है किन्तु ज्योंही वह अर्थ को अपने कठोर नियंत्रण में रखना सीख जायगा—उसका चैतन्य भी चमक उठेगा।

समता मार्ग की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति का इस कारण सिद्धान्ततः गुण व कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग में विश्वास होना चाहिये। गुण व कर्म का आधार किस रूप में हो--इसे समझ लेना चाहिये। कारण कि आज के अर्थ-प्रभावी वातावरण में यह कठिनता से समझ में आनेवाला तथ्य है। समाज में ऊँची श्रेणी, ऊँचा आदर या ऊँची प्रतिष्ठा उसे मिलनी चाहिये जिसने अपने जीवन में ऊँचे मानवीय गुणों का सम्पादन

किया हो तथा जिसके कार्य त्याग एवं जनकल्याण की दिशा मे सदा उन्मुख रहते हों और इसी मापदंड से समाज को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया जाय। इस विभाजन का यही अर्थ होगा कि नीचे की श्रेणी वाला स्वयं प्रबुद्धता ग्रहण करता हुआ ऊपर की श्रेणियों में आने का सत्प्रयास करता रहे। गुण और कर्म ही मनुष्य की महानता के प्रतीक हों एवं अन्य पौद्गलिक उपलब्धियाँ इनके समक्ष हीन-दृष्टि से देखी जाय।

गुण कर्म के आधार पर श्रेणी विभाग का विश्वास ज्यों २ मनुष्य के आचरण में उतरेगा, अन्य भौतिक प्राणियों का महत्त्व समाज में स्वतः ही घटता जायगा और तदनुसार भौतिक दृष्टि से सम्पन्नों का समादर भी समाप्त हो जायगा। तब गुणाधारित समाज एक कर्मनिष्ठ समाज होगा और व्यक्ति २ का सामान्य चरित्र भी समुन्नत होता जायगा। सर्वांगीण समता वैसे समय में एक सुलभ साध्य बन जायगी।

सच पूछा जाय तो मनुष्यता का सच्चा विकास ही तब होगा जब गुण पूजक संस्कृति की रचना होगी जैसी कि महावीर ने रची थी। ऐसी संस्कृति ही सदाशय कर्म को अनुप्रेरित करती रहती है। महावीर ने अपने दर्शन में व्यक्ति-महत्ता को कहीं स्थान नहीं दिया है—सिर्फ गुणों की आराधना पर बल दिया। नमस्कार मंत्र में भी किसी व्यक्ति को नहीं, अपितु गुणों के प्रतीक—अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु को वन्दन किया गया है। इसी गुणाधारित संस्कृति के श्रेष्ठतम विकास एवं अधिकतम प्रसार पर बल दिया जाना चाहिये।

१७ः

सम्पत्ति व सत्ता प्रधान व्यवस्था के स्थान
पर मानवता प्रधान व्यवस्था का गठन—

समता के सिद्धान्त दर्शन का निचोड़ यह होगा कि वर्तमान समाज व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन हो और उस परिवर्तन का उद्दे कि जड़ का नहीं, चेतना का शासन स्थापित हो, सत्ता

शक्ति से प्रभुता न मिले, बल्कि मानवीय गुणों की उपलब्धि से समाज का नेतृत्व प्राप्त हो। इसके लिये आज की सम्पत्ति एवं सत्ता प्रधान व्यवस्था को हटाकर उसके स्थान पर मानवता-प्रधान व्यवस्था का गठन करना होगा।

इस व्यवस्था से सम्पत्ति व सत्ता के स्वामी को नहीं, मानवीय गुणों के साधक को प्राण-प्रतिष्ठा मिलेगी जिससे गुण प्राप्ति की ओर सामान्य जन का उत्साह बढ़ेगा। सम्पत्ति और सत्ता पाने की छिछली और घिनौनी होड़ खत्म हो जायगी। सम्पत्ति और सत्ता को अपने लिये प्राप्त करने की यह होड़ ही हकीकत में सारी विषमता को पैदा करनेवाली है। यही होड़ मनुष्य के सारे आचरण को आज दंभी बनाये हुए है। मनुष्य का मन आज सोचता कुछ और है किन्तु अपने बाहरी आचरण से वह दिखता कुछ और है और इस तरह अपने दुमुखी दंभपूर्ण व्यवहार द्वारा वह धूर्तता का प्रचार करता है और धूर्ताई को धीरे २ अपना पेशा बना लेता है। यह आज की संपत्ति एवं सत्ता-प्रधान समाज-व्यवस्था का कुफल है।

मानवता-प्रधान समाज व्यवस्था में चेतना, मनुष्यता एवं कर्मनिष्ठा की श्रेष्ठता को प्रधानता मिलेगी। सर्वहित में जो जितना ज्यादा त्याग करेगा, वह उतना ही पूजा जायगा। तब दृष्टि सम होने से यथार्थ बनेगी और दृष्टि वस्तु-स्वरूप को उसकी वास्तविकता में देखेगी। जब यह अवलोकन सही होगा तो उसकी रोशनी में प्रत्येक को अपने उत्तर-दायित्वों का भान भी सही रूप में होगा। ऐसी सचेतक स्थिति में वह अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का ज्ञान भी सम्यक् प्रकार से कर सकेगा।

मानवीय गुणों के आधार पर बना व्यक्ति एवं समाज का जीवन तब समता की दिशा की ओर ही अभिमुख रहेगा और यह समता भी एकांगी नहीं, सर्वांगीण होगी। सांसारिक जीवन को जब ऐसी समता का आधार दे दिया जायगा तो उस जीवन से सन्त-जीवन में प्रवेश करने वाले त्यागियों का चरित्र अपनी विशिष्टता को बड़ीव प्राभाविक रूप से सब ओर प्रकाशित करेगा। 'जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा'—अर्थात् जो संसार के सत्कर्मों में शौर्य प्रदर्शित कर सकते हैं, वे धर्म-क्षेत्र में भी अपना

अपूर्व शौर्य्य अवश्य दिखाते हैं। समता के वातावरण में पला-पोषा संसारी जीवन आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसी आदर्श समता का विकास कर सकेगा जो आत्मा को परमात्मा से मिलाती है।

सिद्धान्त-दर्शन का पहला सोपान

समता दर्शन द्वारा लक्षित आत्मीय समता से मानवीय समता तक के इस सिद्धान्त-विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि हमें किस दिशा में गतिशील बनना है ? पहले ही सोपान पर सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण इस तथ्य का द्योतक है कि जो कुछ करना है, सबसे पहले उसके गन्तव्य के सम्बन्ध में प्रबुद्ध पुरुषों के दिशा-निर्देश को जानो तथा उसे हृदयंगम करके अपने चिन्तन का विषय बनाओ। दूसरे सोपान जीवन दर्शन में इसी दृष्टिकोण से ज्ञान के इस प्रकाश में आचरण को कैसी धारण बननी चाहिये—इसका विवेचन किया जायगा।

ज्ञान, चिन्तन एवं कर्म की त्रिधारा में कहीं भी सत्य को आंखों से ओझल न होने दिया जाय और सत्य की सारी कसौटियों में आत्मानुभूति की कसौटी सदा जीवन्त बनी रहनी चाहिये। सिद्धान्त के प्रत्येक पहलू पर चिन्तन करते समय यदि आत्मानुभूति सजग बनी रहती है तो अन्तर में सत्य की ज्योति भी सदा चमकती रहेगी। सत्याधारित चिन्तन का जो भीतर निष्कर्ष निकलता है, सही अर्थ में उसे ही आत्मा की आवाज मानना चाहिये।

सत्य-दर्शन की इस विधि को न भूलें !

सत्य दर्शन के सम्बन्ध में महावीर की स्याद्वाद विधि को सदैव याद रखें। स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति की इस विधि को कई लोग नासमझी में अनिश्चयपूर्ण कहते हैं किन्तु यदि इसे गहराई से इसका

जाय तो साफ हो जायगा कि हठहीन निष्ठा से विचार-समन्वय की इस पृष्ठभूमि पर खड़े होकर जितने सहज भाव से सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है—संभवतः वैसी अन्य पृष्ठभूमि सार्थक नहीं होगी।

कथंचित् यह भी है तथा कथंचित् यह भी है—इस विचार श्रेणी में सत्य के सभी पक्षों को समक्ष रखने का आग्रह है। सात अंधों और हाथी की कहानी सभी जानते हैं। जब किसी एक खास विचार के प्रति दुराग्रह बनता है तब उसकी स्थिति भी उन अंधों जैसी ही हो जाती है। जिस अंधे ने हाथी की पीठ पर हाथ फेरा, उसने हठपूर्वक यही कहा कि हाथी तो दीवार जैसा ही होता है। जिसने पूंछ पकड़ी उसने हाथी को रस्सी जैसा तो जिसने पैर पकड़ा उसने उसे खंभे जैसा बताया। इसीप्रकार सभी अन्धे अपनी-अपनी धारणा के अनुसार हाथी की आकृति बताने लगे। आकृति बतावें यहाँ तक तो फिर भी कोई बात नहीं, किन्तु संघर्षशील विवाद करने लगे कि जो कुछ वह बता रहा है, वही सत्य है और और जो कुछ दूसरा बता रहा है, वह पूर्णतः असत्य है।

आज का विचार मतभेद दुराग्रहपूर्ण रूप धारण करके कुछ ऐसा ही रूप लिये हुए है। अब इस विवाद में स्याद्वाद को लागू करें।

एक अपेक्षा से प्रत्येक अंधे का अनुभव सत्य है। कथंचित् हाथी दीवार जैसा है भी और पूरे तौर पर देखें तो नहीं भी है। यह अनिश्चितता नहीं है बल्कि निश्चितता को पकड़ने का सूत्र अवश्य है। यदि सभी अंधे विवाद नहीं करते—एक दूसरे को सुनते और समझते, फिर सबके अनुभवों को मिलाकर सहिष्णुतापूर्वक सत्य को खोजते तो क्या वह उन्हें नहीं मिलता? तो ऐसे दुराग्रही विचारान्धों के लिये स्याद्वाद वैसा नेत्रवान पुरुष है जो उनके अनुभवों को समन्वित करके सत्य के दर्शन कराता है।

किसी भी तत्त्व, स्वरूप, सम्बन्ध अथवा वस्तु के कई रूप होते हैं। यदि उसके सभी रूपों का ज्ञान न हो तो उसका एकांगी ज्ञान अधिकतर मिथ्या की ओर ही ले जाता है। जहाँ सत्य की जिज्ञासा है, वहाँ

एकांगी ज्ञान भी पूर्णता प्राप्ति की ओर गति करता है किन्तु दुराग्रह में पड़कर वैसा ज्ञान अज्ञान रूप ही हो जाता है। सत्य ज्ञान दृष्टि विविध अपेक्षाओं को समझ कर सम्पूर्ण स्वरूप का निर्णय करती है।

आत्मानुभूति का सत्य

ज्ञान और चिन्तन की धाराओं में जो अन्तर में अनुभूति होती है— वह पूर्ण सत्य हो, यह आवश्यक नहीं। आत्मा के यथाविकास पर उसके सत्यांश की गुरुता या लघुता बनती है किन्तु यह सही है कि प्रत्येक सच्ची आत्मानुभूति में सत्यांश अवश्य होता है, बशर्ते कि उसका प्रकटी-करण निश्छल हो। इस आत्मानुभूति में यदि विनम्रता एवं सत्य की जिज्ञासा हो तो हठवाद उसे बांधेगा नहीं तथा उन्मुक्त आत्मानुभूति जहाँ से भी मिलेगी, सत्यांशों को सम्हालने चेष्टा में तल्लीन रहेगी।

समता साधक का कर्त्तव्य

समता-दर्शन के साधक का इस संदर्भ में पवित्र कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह सिद्धान्तों को जानकर आत्मानुभूति की कसौटी पर कसे और सत्य-दर्शन की जिज्ञासा को सदैव जागृत रखे। इस सादी प्रक्रिया के बाद जो सत्य-सार उसे प्राप्त होगा, उस पर उसकी जो आस्था जमेगी, वह अटूट रहेगी तथा वही उसे कर्म-पथ पर सतत जागृत रखेगी।

●

रह सकेगा ? सन्तजन आत्म-साधना भी कर सकते हैं तथा उपदेश की धारा बहाकर समाज की सेवा भी कर सकते हैं—क्या यह बाती से बाती को जलाना नहीं ? "परोपकाराय सतां विभूतयः"—यह क्यों कहा गया है ? क्या इसलिये नहीं कि परोपकार में स्वोपकार तो स्वतः हो ही जाता है। व्यक्ति आगे बढ़ता रहे और गिरे हुओं को उठाता रहे—यही तो जीवन-धर्म है। समता के इस जीवन-दर्शन को पुष्ट बनाने के लिये व्यक्ति को पहले समतामय जीवन-निर्माण की दिशा में अग्रसर होना चाहिये।

व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण

समता दर्शन के इस दूसरे सोपान पर पैर रखते हुए व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण सन्तुलित बनने चाहिये। दर्शन के एक बिन्दु को व्यवहार में लिया तो यह सरल नहीं है कि क्रिया का वह कदम तुरन्त जम जाय। साधना-पथ पर आशा निराशा के मौके आते हैं, कठिनाइयाँ मार्ग को रोकती हैं तो कभी मन की दुर्बलताएं भी हताशा उत्पन्न करती हैं, अतः व्यवहार के बाद अभ्यास की आवश्यकता होती है।

अभ्यास का अर्थ होता है बार बार उसका व्यवहार। एक सिद्धान्त को जीवन में उतारा—कुछ व्यवहार किया और मन डगमगा गया। व्यवहार का क्रम टूट गया। किन्तु अभ्यास उसे फिर पकड़ता है, फिर आजमाता है और तबतक आजमाता जाता है जबतक वह मन को पूरे तौर पर भा न जाय—जीवन में पक्के तौर पर उतर न जाय। अभ्यास की इस सफल प्रक्रिया से आचरण का निर्माण होता है।

आचरण एक स्थायी स्थिति बन जाती है। जिस सिद्धान्त को अभ्यास से जीवन में कार्यान्वित कर लिया तब वह जीवन का स्थायी अंग बन जाता है और इसे ही आचरण कहते हैं। आचरण जीवन को एक साँचे में ढाल देता है। जब हम यह कहें कि व्यक्ति या समाज ने समतामय आचरण बना लिया है तो उसका यही अर्थ होगा कि समता

वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। आचरण की पुष्टता ही जीवन को प्रगतिशील एवं उन्नायक बनाती है।

व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण के चरण उठाते समय इस विषय की ओर ध्यान अवश्य आकर्षित होना चाहिये कि समग्र वस्तु-ज्ञान को तीन भागों में विभाजित किया जाय—ज्ञेय, हेय एवं उपादेय। ज्ञेय यह जो सिर्फ जानने लायक है—आचरण का उससे सम्बन्ध नहीं। जिनका आचरण से सीधा सम्बन्ध है—ये हैं हेय और उपादेय। हेय जो छोड़ने लायक और उपादेय जो ग्रहण करने लायक हैं। छोड़ने और ग्रहण करने का क्रम साथ २ चलता है। विषमता छोड़नी है तो समता ग्रहण करनी है। आचरण के इन चरणों में छोड़ने और ग्रहण करने की गति साथ २ चलती रहनी चाहिये।

हेय और उपादेय के आचरण सूत्र

जीवन अविकसित है इसलिये उसका विकास करना है, अंधकार होता है तभी प्रकाश पाने की उत्कंठा जागती है, विषमता है इस कारण ही समता लाने का सत्साहस पैदा होता है। तो अविकास, अंधकार और विषमता—ये बुराइयाँ हैं। पहले बुराइयों को छोड़ेंगे तभी अच्छाइयाँ आ सकेंगी। बुराई हेय है और अच्छाई उपादेय। इसलिये हेय को छोड़ें और उपादेय को ग्रहण करते जांय—इसका व्यवहार, अभ्यास एवं आचरण का क्रम क्रमशः चलता रहना चाहिये।

विकास आयगा ही तब जब अविकास छूटेगा या इसे यों कहूँ तब भी वही बात है कि अविकास से जितनी मुक्ति मिलेगी, उतना ही विकास जीवन में समाता जायगा। घटाटोप अंधकार होता है—उसमें एक लौ जलती है, क्षीण ही सही शुद्ध प्रकाश फैलता है। वही लौ तेज होती है और हजार-लाख वॉट का बल्ब बन जाती है—चकाचौंध प्रकाश फैल जाता है, कोनों में भी अंधेरा ढूंढे नहीं मिलता। यही जीवन में निर्मलता के उद्गम की स्थिति होती है।

आज के विषम जीवन को देखें तो मैल ही मैल है—हेय को गिनती नहीं। किन्तु अब मैल धोने का काम शुरू करें—एक २ हेय को भी छोड़ते रहें तो आखिर मैल कम होगा ही। ज्ञानमय आचरण की गति सुस्थिर बनी रही तो हेय एक नहीं बचेगा—उपादेय सभी आ मिलेंगे—फिर जीवन निर्मलता का पर्यायवाची बन जायगा।

आचरण के विभिन्न सूत्रों को समता जीवन की साधना करते समय इसी दृष्टि-बिन्दु से पकड़ा जाना चाहिये ताकि हेय के बन्धन कटते जांय और उपादेय के सूत्र जुड़ते जांय। जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा को जगाने के निमित्त से इसी दृष्टि बिन्दु के आधार पर यहाँ आचरण सूत्र दिये जा रहे हैं।

:१:

आचरण-शुद्धि का पहला पग:
सात कुव्यसन का त्याग

समता मार्ग के साधक को प्राथमिक शुद्धिरूप सात कुव्यसनों का का त्याग तो करना ही चाहिये। ये कुव्यसन जीवन को पतन के गर्त में डुबोनेवाले तो होते ही हैं किन्तु समाज में भी इनका बुरा असर पड़ता है। और पतन की संभावनाओं को स्थायी भाव मिलता है। इन सात कुव्यसनों के सम्बन्ध में निम्न जानकारी जरूरी है—

(१) मांस भक्षण—समता के संसार में प्रत्येक जीव को दूसरे जीव की रक्षा में आस्था रखनी चाहिये—'जीवो जीवस्य रक्षणम्'। फिर मांस खाने का मूल अभिप्राय ही इस वृत्ति के विपरीत जाता है। अपने लिये जीव को मारें और मांस भक्षण करें—यह तो विषमता की पूर्णता हुआ। दूसरे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आज पश्चिमी संसार में शाकाहार की आवाज उठ रही है और मांस भक्षण को हानिकारक बताया जाता है। यह तामसिक भोजन विकारों को पैदा भी करता है। अतः इसको छोड़ना अनिवार्य समझा जाना चाहिये।

(२) *मदिरा पान*—देश भर में आज शराबबन्दी के बारे में जो उग्र आन्दोलन चल रहा है तथा सरकार भी आय का लोभ नहीं छोड़ पा रही है वरना शराब की बुराई को तो त्याज्य मानती है—इससे ही शराब के कुप्रभाव का अनुमान कर लेना चाहिये। शराब को समस्त बुराइयों की जड़ कहदें तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गांजा, भांग, धतूरा और आज की एल० एस० डी० की गोलियों आदि के सारे नशों का त्याग मदिरा त्याग के साथ ही आवश्यक समझा जाना चाहिये।

(३) *जुआ*—जहाँ भी बिना परिश्रम अनर्थ तरोकों से धन आने का स्रोत हो उसे जुए की ही श्रेणी में लेना चाहिये। इस नजर से सट्टा व तस्कर व्यापार भी त्याज्य है। बिना श्रम का धन व्यसनों की बढ़ोतरी में ही खर्च होता है।

(४, *चोरी*—चोरी की व्याख्या को भी सूक्ष्म रीति से समझने की जरूरत है। दूसरे के परिश्रम की आय को व्यक्त या अव्यक्त रूप से स्वयं ले लेना भी चोरी है। यही आज के आर्थिक शोषण का रूप है। टैक्स चोरी भी इसका ही दूसरा रूप है। चोरी सदा सत्य का हनन करती है, अतः त्याज्य है ही।

(५ *शिकार*—सर्वजीव रक्षण की भावना में अपने मनोविनोद के लिये जीवहरण सर्वदा निन्दनीय है।

(६) *परस्त्री गमन*—समाज में सेक्स की स्वस्थता को बनाये रखने के उद्देश्य से ही विवाह-संस्था का प्रारम्भ हुआ था। काम का विकार अति प्रबल होता है और उसे नियमित एवं संयमित करने के लिये संसारी मनुष्य के लिये स्वस्त्री सन्तोष का व्रत बताया गया है। यदि काम के अन्धेपन को छूट दे दी जाय तो वह कितने अनर्थों एव अपराधों की लड़ी बांध देगा—इसका कोई हिसाब नहीं। परस्त्रीगमन तो इस कारण भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये कि ऐसा दुष्ट पुरुष दो या अनेक परिवारों के सदाचरण को नष्ट करता है।

(७) *वेश्या गमन*—यह कुव्यसन सारे समाज के लिये घातक है जो नारी जैसे पवित्र जीवन को मोरी के कीड़ों की तरह पतित बनाता है।

आज राज्य और समाज इसका विरोधी बन चुका है तथा वेश्याओं के धन्धे को समाप्त कर रहा है। फिर भी व्यक्ति का संयम इसे समाप्त करने में विशेष सहायक बन सकेगा।

इन सातों कुव्यसनों के वैयक्तिक एवं सामाजिक कुप्रभावों को ध्यान में रखते हुए इनके त्वरित परित्याग की ओर कदम आगे बढ़ने ही चाहिये।

:२:

पंच व्रतों के आचरण से समता विकास की दिशा में—

हेय और उपादेय का क्रम साथ २ ही चलना चाहिये। सप्त कुव्यसन हेय हैं तो उनसे सम्बन्धित सदाचरण उपादेय। इसी प्रकार, अब पंच व्रतों का जो उल्लेख किया जा रहा है, वे उपादेय हैं तो उनका विरोधी आचरण हेय माना जायगा। ये पाँचों व्रत स्थूल रूप से श्रावकों के लिये तो सूक्ष्म रूप से साधुओं के लिये पालनीय बताये गये हैं, अतः समता के साधक को यथाशक्ति इनके पालन में निरन्तर आगे बढ़ते रहना चाहिये।

इन पंच व्रतों के आचरण से समता विकास की दिशा में ठोस काम किये जा सकेंगे—

(१) *अहिंसा*—अहिंसा के दो पक्ष हैं—नकारात्मक एवं स्वीकारात्मक। नकारात्मक तो यह कि हिंसा नहीं की जाय। हिंसा क्या? किसी भी जीवनधारी के किसी भी प्राण को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। जैसे जीवन के दस प्राण माने गये हैं—श्रुतेन्द्रिय बल प्राण, चक्षुरिन्द्रिय बल प्राण, घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, रसेन्द्रिय बल प्राण, स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण, मन बल प्राण, वचन बल प्राण, काया बल प्राण, श्वोसोश्वास बल प्राण एवं आयुष्य बल प्राण। अब किसी इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोश्वास या आयुष्य के बल को कष्ट पहुँचावें तो यह भी हिंसा है। कष्ट भी कैसे? उनके उचित ग्राह्य में बाधा पहुँचावें या उनके बल पर आघात करें तो

उन प्राणों को कष्ट होगा। यह तो नकारात्मक बात। अब स्वीकारात्मक बात यह होगी कि प्रत्येक जीवनधारी के दसों प्राणों की रक्षा का यत्न हो—प्राणों को किसी की ओर से या स्वयं कष्ट हो तो उसे यथासाध्य यथाशक्ति दूर किया जाय तथा सभी जीवनधारियों को समता के धरातल पर खड़ा करने की स्वयं की वृत्ति बनाई जाय तथा वैसी सामाजिक प्रणाली निर्मित की जाय। अहिंसा का इसे स्थूल रूप कहेंगे।

अहिंसा का सूक्ष्म रूप मन से सम्बन्धित है। मानसिक एवं वैचारिक रूप से भी किसी के मन को कष्ट न दें तथा जहाँ ऐसा मतभेद हो वहाँ उसे स्वस्थ रीति से दूर करें - यह भी आवश्यक है। इन्द्रियों को कष्ट के भाव से कष्ट न पहुँचाना या कष्ट दूर करना उनके द्वारा भोग्य-पदार्थों के समुचित वितरण पर निर्भर करेगा। इस प्रकार अहिंसा का व्यापक रूप समाज में व्यक्ति के सम-जीवन के निर्धारण में पूर्णरूप से सक्षम एवं प्रभावकारी हो सकता है।

(२) सत्य—सत्य क्या और मिथ्या क्या—यह पूर्णतः आत्मा की ज्ञान एवं चिन्तन दशा तथा अन्तर्-अनुभूति के निर्णायक विषय हैं। इनके स्थूल रूप तो सभी प्राणियों के बोध-गम्य हो जाते हैं जो इन्द्रियों के माध्यम से आने जाते हैं जो आँखों से देखा है—वह सच और उसके खिलाफ कहा जाय तो वह झूठ। इसी आधार को सामान्य जन के मानस से विशिष्ट महापुरुषों के मानस तक ले जायें तो यह कहा जायगा कि वे अन्तर्दर्शन से जीवन के जिन अज्ञात सत्यों की शोध करते हैं, वह शोध सामान्य जन के लिये अनुकरणीय हो जाती है और तब उसी शोध के आधार पर सत्यासत्य का निर्णय किया जाता है। जैसे वीतराग वाणी को सत्य कहते हैं—इसलिये कि आत्मोन्नति की उच्चस्थ श्रेणियों में राग द्वेष से विहीन होकर निरपेक्ष भाव से जो सत्यावलोकन वीतराग पुरुषों ने किया, वह आदर्श बन गया। वह एक तरह से प्रकाश स्तम्भ का काम करता है कि उसे देखकर जीवन के अंधेरों को पार किया जाय।

सभी प्रकार से मिथ्या को छोड़ना एवं सत्य का अनुकरण एवं अनुशीलन करना समता-साधक का कर्तव्य है। लौकिक वस्तुस्थिति

हो या अलौकिक—सत्य सदा जीवन के साथ होना चाहिये। सत्य साथ तभी सुदृढ़ता से रह सकेगा जब उसके स्तर से आत्मानुभूति को विचार एवं आचार की उत्कृष्टता एवं शुद्धता के बल पर विकसित कर ली जाय। सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य माना गया है—वह तभी होता है जब जीवन-विकास विकास की चोटी पर चढ़ जाय। इसलिये सत्य के प्रति सतत निष्ठा मनुष्य को समता की परम श्रेष्ठता तक पहुँचाती है।

(३) *अस्तेय*—व्यक्ति के एकाकी जीवन से समाज में प्रतिक्षण गुंथे हुए उसके आज के जीवन तक जो सांसारिक परिस्थितियों का विकास हुआ है, उसमें अर्थ, सम्पत्ति या परिग्रह तथा उसके अधिकार *सम्बन्धों का अमित प्रभाव रहा है। प्रकृति आधारित जब व्यक्ति का* जीवनयापन छूट गया और वह स्वयं अर्जन करने लगा तभी से अर्थ का असर भी आरम्भ हुआ। जो ज्यादा कमाता और कमाकर उसकी रक्षा में भी समर्थ बनता, वह समाज में भी अधिक शक्तिशाली कहलाता। जो कमा लेता, मगर उसकी सुरक्षा का सामर्थ्य पैदा नहीं कर सकता था, वह फिर भी कमजोर वर्ग में ही रहता।

चोरी का अध्याय वहीं से शुरू होता है जब समर्थ कमजोर की सम्पत्ति हरने लगा। चोर पूरा समर्थ होता तो डाकू बन जाता, कम *समर्थ होता तो* चुपके से चोरी कर लेता। अब आज की जटिल आर्थिक परिस्थितियों में चोरी के रूप भी जटिल हो गये हैं। एक कारखाने में एक मजदूर दिन भर में दस रुपये के मूल्य का उत्पादन करता है और यदि उसे चार रुपया ही मजदूरी दी जाती है जबकि कानूनन उन चार रुपये को पांच या अधिक दिखाया जाता है तो यह पांच या अधिक रुपये प्रति दिन की प्रति मजदूर से चोरी ही हुई। इस चोरी को खुले तौर पर चोरी समझा नहीं जाता है तथा चोर को प्रतिष्ठा ही मिलती है—यह दूसरी बात है। तो अस्तेय का अर्थ है चोरी के स्थूल या सूक्ष्म सभी रूपों को निरन्तर छोड़ते जाना तथा अचौर्य व्रत को सुदृढ़ बनाते जाना।

आज के अर्थ-प्रधान युग में अस्तेय व्रत का बहुत ही महत्त्व है। चाहे मजदूर की चोरी हो या सरकार की चोरी—सभी चोरियाँ न्यूनाधिक रूप से निन्दनीय मानी जानी चाहिये। अस्तेय व्रत का यह असर होना चाहिये कि संसार में सभी नीतिपूर्वक अर्जन करें और जो भी अर्जन करें, यह स्वयं के शुद्ध श्रम पर आधारित होना चाहिये। यह श्रम भी समाजोपयोगी श्रम होना चाहिये। व्यक्ति का श्रमनिष्ठ अर्जन व्यक्ति और समाज दोनों के जीवन में नैतिकता, शुद्धता एवं समता का संचार करेगा।

(४) *ब्रह्मचर्य*—गहराई से देखा जाय तो संसार की सारी समस्याओं का निचोड़ दो समस्याओं में लिया जा सकता है और वे दो समस्याएँ हैं—१. रोटी की समस्या और २. सैक्स की समस्या। सैक्स अर्थात् काम की वासना। किसी भी जीवधारी में सामान्यतया आहार, निद्रा व भय के अलावा मिथुन वृत्ति को भी कर्म-प्रकृति-प्रदत्त अनादि माना गया है। संसार के क्रम को बनाये रखने वाला यह मिथुन भी होता है। काम प्रजनन और वासना का कारण होता है और प्रजनन से संसार का क्रम चलता है।

काम-वासना का वेग अति प्रबल होता है और इस अन्धड़ में कई बार बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी गिरकर चकनाचूर हो जाते हैं। अतः इसे नियमित एवं संयमित करने के प्रयास भी बराबर चलते रहे हैं और काम-जय करके निर्विकारी पुरुषों ने श्रेष्ठ आदर्शों की स्थापना भी इस दिशा में की है। सांसारिक जीवन में मिथुन की मर्यादा की गई है तो साधु जीवन में इस विकार को मन से भी निकाल देने की प्रेरणा दी गई है।

सांसारिक जीवन में विवाह एवं परिवार संस्थाओं के निर्माण का लक्ष्य काम वासना को नियमित करना ही था। उन्मुक्त सैक्स को समाज के लिये घातक माना गया। काम-वासना के पागलपन को जितने अंशों में रोका जा सकता है, उतनी ही व्यवहार-स्वस्थता व्यक्ति में उभरेगी। कानूनों का भी इस दिशा में यही लक्ष्य रहा है।

काम-वासना के निरोध एवं उन्मूलन में बलात् प्रयोगों की अपेक्षा स्वेच्छिक प्रयोग ही अधिक सफल हो सकता है और वह प्रयोग है ब्रह्मचर्य्य का। अपनी इच्छा एवं संकल्प शक्ति के जरिये मिथुन-वृत्ति को धीरे-धीरे उसके वैचारिक, वाचनिक एवं कायिक तीनों रूपों में नियंत्रित करें व समाप्त करें—यह ब्रह्मचर्य्य की आराधना होगी। ब्रह्मचर्य्य का तेज समता साधना में परम सहायक होगा। इसका व्यापक अर्थ भी है पर यहाँ नहीं दिया गया।

(५) *अपरिग्रह*—भौतिक साधन एवं उसमें रहने वाले ममत्व भाव को परिग्रह के रूप में परिमापित किया गया है जिसमें भी मुख्य ममत्व या मूर्छा को माना गया है। परिग्रह परिग्रह के प्रति मूर्छा को उत्पन्न करता है और जीवन में जितनी मूर्छा गहरी होती है, जागृति उतनी ही लुप्त होती चली जाती है। आत्मा की चेतना को भुलाने वाला यह परिग्रह होता है और उससे भी घातक होती है परिग्रह को अधिक से अधिक प्राप्त करने की अन्तहीन वितृष्णा। यही वितृष्णा विषमता की माँ होती है। व्यक्ति की वितृष्णा बढ़ती है तब वह नीति छोड़ कर येन केन प्रकारेण धनार्जन एवं धन-संचय करना चाहता है—सारा विवेक, सदाशय एवं न्याय-विचार खोकर, तब विषमता का दौरदौरा चलता है। भाई सगे भाई को भी अपना मानना छोड़ने लगता है। भाई, पिता, माता, धर्म और ईश्वर सभी का स्थान एक परिग्रही के लिये तृष्णा ले लेती है।

समता का सबसे बड़ा शत्रु परिग्रह है, अतः अपरिग्रह व्रत इसके गूढार्थ में समझा जाना चाहिये तथा व्यवहार में सिर्फ पदार्थों के त्याग को ही नहीं, तृष्णा-त्याग को अधिकतम महत्व दिया जाना चाहिये। इस धन-लोलुपता ने आज के विषम संसार में जो हाहाकार मचा रखा है और मानवता को कुचल रखी है—इसके रहते समता व्यवस्था की आशा दुराशा मात्र होगी। परिग्रह में धन-सम्पत्ति के सिवाय सत्ता, पद या यश सभी का समावेश हो जाता है। परिग्रह की समतापूर्ण व्यवस्था हो—उसका संसार में जीवन-संचालन के लिये उपयोग भी हो किन्तु

ज्यों ही उसके प्रति ममत्व-मूर्छा क्षीण हो जायगी तो परिग्रह फिर अनर्थकारी नहीं रह जायगा—जीवन के स्वस्थ-संचालन का साधन मात्र हो जायगा।

साधु को भी रोटी चाहिये, किन्तु वह रोटी के प्रति ममत्व नहीं रखता—निरपेक्ष भाव से उसे ग्रहण करता है। उसी तरह जब जीवन के लिये परिग्रह होगा परिग्रह के लिये जीवन को मिट्टी में नहीं मिलाया जायगा तभी समता जीवन का अभ्युदय हो सकेगा। यही अपरिग्रह व्रत का गूढ़ार्थ है।

इन पांच व्रतों का यथा-शक्ति यथाविकास पालन ज्यों-ज्यों जीवन में बढ़ता जायगा, निश्चित है व्यक्ति के इस पालन का सामाजिक प्रभाव होगा और दोनों प्रभाव मिलकर समता-विकास के लिये सुन्दर वातावरण की रचना करेंगे।

:३:

क्षेत्र की गरिमा एवं पद की
मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता—

अर्थ-प्रधान युग का मानसिक दृष्टि से यह भी एक भयंकर कुपरिणाम माना जाना चाहिये कि आज का मानव अधिक से अधिक दंभी और पाखंडी (हिप्पोक्रेट) बनता जा रहा है। जो जीवन में प्रामाणिक रहना भी चाहता है, अधिक बार वातावरण उसे प्रामाणिक नहीं रहने देता। वर्तमान समाज व राज की जो व्यवस्था है—इसने भी पाखंड वृत्ति को काफी बढ़ाई है। समाज का समूचा वातावरण ऐसा बन गया है कि जो है कुछ और तथा अपने को बताता है कुछ और—वैसा दंभी एक के बाद दूसरी सफलताएँ प्राप्त करता रहता है—राजनीति और समाज में ऊँची से ऊँची प्रतिष्ठा तथा ऊँचे पद पाता रहता है। इसके विपरीत जो अन्दर बाहर को एक रूप में प्रकट करता हुआ चलना चाहता है, उसके सामने पग-पग पर कठिनाइयाँ आती हैं। उसकी

उन्नति तो दूर—सामान्य रूप से चलना भी दूभर हो जाता है। यह व्यक्ति और समाज की विषमताओं का कुफल है।

विडम्बना तो यह है कि लोग जिसके पाखंड को जान लेते हैं उसे भी इसलिये प्रतिष्ठा देते रहते हैं कि वह सफल होता जा रहा है। इसका सीधा असर जन मानस पर यह होता है कि दंभ और पाखण्ड को ग्रहण किया जाय। यह उच्च वर्ग का विष आज इस तरह सब ओर रमने लगा है कि दिया लेकर भी प्रामाणिकता को खोज निकालना कठिन हो गया है। दंभ, छल, कपट और पाखंड आज की व्यवहारिकता के सूत्र बनते जा रहे हैं। इसका एक सादा सा उदाहरण लें। एक सज्जन व्यक्ति से किसी ने दस रुपये का नोट उधार माँगा नोट उसकी जेब में है किन्तु माँगने वाले की अप्रामाणिकता के कारण वह उसे उधार देना नहीं चाहता। तो उसे स्पष्ट इन्कार करके उसे उसके चरित्र के प्रति सजग बनाना चाहिये। किन्तु वह व्यवहारिकता के चक्कर में पड़ जाता है कि व्यर्थ में क्यों किसी को नाराज करें—इस कारण वह झट जवाब दे देता है—इस समय उसके पास रुपये नहीं है। सांप भी नहीं मरा, लाठी भी नहीं टूटी—यह व्यवहारिकता चल रही है।

प्रामाणिकता की जीवन के सभी अंगों में प्राण-प्रतिष्ठा आज की प्रबल आवश्यकता है और यह उच्चवर्ग का प्रमुख दायित्व है। जो जितने अच्छे क्षेत्र में काम करता है और जितने ऊँचे पद पर जाता है, उसकी प्रामाणिकता के प्रति अधिक से अधिक जिम्मेदारी बनती है—इसी कारण यहाँ की गरिमा एवं पद की मर्यादा के अनुसार प्रामाणिकता लाने पर बल दिया जा रहा है। प्रामाणिकता की धारा उन लोगों से बहेगी तभी वह सारे समाज में फैलेगी जो समाज में किसी भी नजर से जिम्मेदार जगहों पर काम करते हैं अथवा परम आध्यात्मिक हैं।

जहाँ पाखंड, दंभ या हिप्पोक्रेसी है, वहाँ मन वाणी और कर्म की एकरूपता का प्रश्न ही नहीं तो उस आचरण से भयंकर विषमता ही तो फैलेगी। समता लानी है तो दंभी-वृत्ति को मिटानी पड़ेगी और जितना अधिक दायित्व, उतना ही अधिक प्रामाणिक बनना होगा।

यह पाखंड तो समता के मूल पर ही आघात करता है चाहे वह समता सांसारिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखती हो अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र से। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो पाखंड का अस्तित्व ही घातक होता है जबकि वस्तुस्थिति ऐसी भी है कि धर्म और सम्प्रदायों के नाम पर भी भयंकर पाखंड चलता है। यह जटिल और विषम स्थिति है।

समता साधक के जीवन का प्रत्येक विचार, वचन और कार्य प्रामाणिकता के धरातल से ही जन्म लेना चाहिये एवं प्रतिक्षण प्रामाणिक बना रहना चाहिये। दंभ या पाखंड का किसी भी रूप में उससे छूना भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये। अप्रामाणिकता जब तक है, जीवन में सच्चा ज्ञान नहीं आ सकता, सच्चा चिन्तन नहीं हो सकता—तब आचरण की सचाई का बनना तो संभव ही नहीं है। सबसे बड़ा परिवर्तन आज के इस अप्रामाणिक जीवन में लाना है—इसे कतई नहीं भूलें।

:8:

निष्कपट भाव से मर्यादा, नियम एवं संयम का अनुपालन

कपट रहने पर प्रामाणिकता आती है और इसके आने पर जीवन में एक स्वस्थ एवं व्यवस्थित परिपाटी के निर्माण का संकल्प जागता है। इसी व्यवस्था का नाम है मर्यादा, नियम एवं संयम का अनुपालन। मर्यादाएं वे जो समाज एवं व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के सुचारु रूप से निर्वहन के हित परम्पराओं के रूप में ढल गई है। परम्पराओं के लिये भी परख बुद्धि की जरूरत होगी। कई बार अज्ञान दशा में गलत परम्पराएं भी बन जाती हैं अथवा भावशून्य हो जाने से कालावधि में परम्पराएं रूढ भी हो जाती है। अतः ऐसी परम्पराओं को मर्यादा रूप में स्वीकार करना चाहिये जो समता जीवन को पुष्ट करती रही है अथवा आज भी वह क्षमता उनमें विद्यमान है। मर्यादाओं के निर्वाह में भी केवल अन्धानुकरण नहीं होना चाहिये।

सामाजिक नियम वे जो व्यक्ति या किसी भी प्रकार के संगठन के अनुशासन हेतु बनाये जाते हैं और सम्बन्धितों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। नियम वे ही नहीं जो लेखबद्ध हों बल्कि वे भी जो आदर्श रूप हों। विकास की गति एक सी नहीं होती, अतः नियम भी सदा एक से नहीं रहते। यथासमय यथाविकास उनमें परिवर्तन आते रहते हैं किन्तु उनका उद्देश्य सदा एक सा रहता है कि उनका अनुपालन करके समाज एवं व्यक्ति के सम्बन्धों में तथा स्वयं व्यक्ति के जीवन में भी अनुशासन रहे और दृष्टि सम बने।

आधुनिक विधि के क्षेत्र में तो यह बात गौरव से कही जाती है कि लोकतंत्र में व्यक्ति का राज नहीं होता बल्कि कानून का राज होता है। बड़ा से बड़ा और छोटा से छोटा व्यक्ति भी कानून के सामने समान गिना जाता है। इसे कानून कहिये या नियम—इनका मूल बहुमत की इच्छा में होता है अथवा यों कहें कि सब सम्बन्धितों की स्वीकृत इच्छा के आधार पर ही नियमों की सृष्टि होती है जिसे सामाजिक शक्ति के रूप में देखा जा सकता है। तब व्यक्ति बड़ा नहीं रहता—कानून या नियम बड़ा हो जाता है और उनके द्वारा व्यक्ति के जीवन को नियंत्रित तथा सन्तुलित रखा जाता है। इस कारण नियम को विशेष महत्त्व है और नियम की व्यवस्था से संयुक्त जीवन को ही नियमित जीवन कहा जाता है।

समता का क्षेत्र नियम तक ही नहीं है। नियम बने किन्तु उसका पालन न हो तो दंड व्यवस्था भी काम करे किन्तु इससे व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन लाना कम संभव होता है। किसी को उसके अपराधों के लिये दंडित करना आसान है किन्तु उसमें भावनात्मक परिवर्तन लाना और उसके दिल को बदल देना उतना आसान नहीं होता। इसके लिये संयम की आवश्यकता होती है। नियम भंग करने वाले के सामने अगर कोई अपना प्राप्य भी छोड़ दे और संयम का रुख अख्तियार कर ले तो वह नियम भंग करने वाले के दिल को भी पलट सकता है। त्याग और संयम में ऐसी ही दिव्य शक्ति होती है जो मनुष्य को उसके मनुष्यत्व से भी ऊपर उठाकर देवत्व के समीप ले जाती है।

मर्यादा, नियम एवं संयम के अनुपालन मे निष्कपट भाव पहले जरूरी है। ऐसी अवस्था में दो स्थितियाँ स्वतः ही टल जायगी जो हैं— विश्वासघात एवं आत्मघात की स्थितियाँ। कपट नहीं छूटता तबतक मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिये हर किसी के साथ विश्वासघात का व्यवहार करता है। उसके मन, वचन और कर्म गाड़ी के पहिये की तरह घूम जाते हैं। ऐसा ही व्यक्ति आत्मघात के स्तर पर भी पहुंच जाता है। कपट, माया, दंभ और पाखंड की वृत्ति से अपनी आत्मा की श्रेष्ठता की घात तो वह करता ही है किन्तु प्रतिशोध या आत्म-ग्लानि के भँवर में पड़कर वह कभी आत्म हत्या करने के लिये भी तैयार हो जाता है। इस दृष्टि से समता साधना के लिये निष्कपट भाव का होना अति आवश्यक माना गया है।

:५:

सर्वांगीण दायित्वों पर ईमानदारी से
विचार एवं 'यथा' के साथ निर्वहन—

समाज में रहते हुए व्यक्ति के कई पक्ष होते है और इसलिये उसके दायित्व भी बहुमुखी हो जाते है। अतः यथास्थान, यथावसर, यथा-शक्ति यथायोग्य रीति से ऐसे सर्वांगीण दायित्वों पर ईमानदारी से विचार किया जाय एवं इन्हीं सब 'यथा' के साथ उनका निर्वहन किया जाय, तब व्यक्ति अपने स्वयं के प्रति एवं परिवार से लेकर समूचे प्राणी समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का समुचित रीति से पालन कर सकेगा एवं सर्वत्र समता के स्थायी भाव को फैला सकेगा।

किसी भी कर्त्तव्य से कहीं भी च्युत होने का अर्थ ही यह होता है कि वहाँ आपने विषमता का पौधा रोप दिया। बुराई जल्दी जड़ पकड़ती है और फैलती है, उसी तरह विषमता भी एक बार पनप कर बहुत जल्दी पसर जाती है। अतः समता की महायात्रा में कहीं भी

:६:

आत्म-दर्शन के आनन्द पथ पर

समता का तीसरा सोपान—आत्म-दर्शन मनुष्य को ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की त्रिधारा में अवगाहन कराते हुए आनन्द पथ पर अग्रसर बनाएगा। आनन्द की आकांक्षा संसार में प्रत्येक प्राणी को लगी हुई है। हर कोई हर समय सुखी रहना चाहता है और यह भी चाहता है कि उसे कभी दुःख न देखना पड़े। आनन्द की आकांक्षा से ही जब मनुष्य के मन में उल्लास छा जाता है तो कल्पना करें कि आनन्द का अनुभव कितना उल्लासकारी बनकर उसे आत्मविभोर बना देगा ?

किन्तु खेदजनक अवस्था यह है कि आनन्द की वास्तविकता को जांचने-परखने और सच्चे आनन्द का रहस्य जानने की मनोवृत्ति बहुत कम लोगों में पाई जाती है। शाश्वत आनन्द की इच्छा रखते हुए भी इसी कारण अधिकतर लोग क्षणिक आनन्द के प्रलोभन में पड़ कर शाश्वत दुःख की गलियों में भटक जाते हैं। इनमें अज्ञानी लोग भटकते हों—ऐसी ही बात नहीं है। वे अच्छे २ ज्ञानी और कर्मठ लोग भी भटक जाते हैं जो आत्म-दर्शन की अवहेलना करते हैं और जिन्हें सब कुछ करने के बावजूद भी अपने ही 'मैं' की अनुभूति नहीं होती।

यह 'मैं' की अनुभूति क्या है ?

जिसने भी यह स्वर उठाया कि मैं ही ब्रह्म हूँ—मैं ही जगत् हूँ और मैं ही सब-कुछ हूँ, वह स्वर अभिमान का स्वर नहीं, अनुभूति का स्वर था। जीवन में जब मूर्छा, अज्ञान और पतन समाया रहता है तब उसका 'मैं' इतना क्षुद्र बन जाता है कि न तो वह खुद ही जागता है और न जगाने का काम भी कर सकता है। इसके विपरीत जब 'मैं' जागता है तो वह इतना विराट् बन जाता कि सारा ब्रह्म—सारा जगत् उसमें समा जाता है अर्थात् यह 'मैं' अपने को विगलित कर सब सबमें रल-मिल जाता है—सबको अपना लेता है और यही 'मैं' की उच्चस्थ अवस्था होती है तो यही समतामय जीवन का चरम विकास भी होता है।

संसारी आत्माओं का 'मैं' इतना सोया हुआ रहता है कि उसे खोजना, जगाना और कर्मनिष्ठ बनाना एक भगीरथ प्रयत्न से कम नहीं। इस 'मैं' का साक्षात्कार ही सत्य का साक्षात्कार है—ईश्वर का साक्षात्कार है। प्रत्येक मानव अपने आपको 'मैं' ही तो कहता है, किन्तु वह अपने इस 'मैं' को गलत-गलत जगहों पर आरोपित करता हुआ उसको उसकी वास्तविकता से विस्मृत बना रहता है, इसी कारण वह अपने असली 'मैं' को आसानी से खोज नहीं पाता। विषमताजन्य परिस्थितियों में डोलायमान रहते हुए वह बाह्य वातावरण से इतना प्रभावित बनता है कि अन्तर में झांकने की उसे संज्ञा नहीं होती और अन्तर में नहीं झांके तो इस 'मैं' को कैसे देखे या कि उसकी अनुभूति कैसे ले ?

पहले आत्मा को जानें !

"मैं" की अनुभूति की दिशा में आगे बढ़ने के लिये पहले आत्म-तत्त्व को जानना अनिवार्य है। एक मानव शरीर जिसे हम जीवित कहते हैं और दूसरे सद्य मृत मानव शरीर में क्या अन्तर है ? एक क्षण पूर्व जो शरीर सचेतन था, जिसकी सारी इन्द्रियाँ और सारे अवयव काम कर रहे

थे और जिसमें भावनाओं का प्रवाह उमड़ रहा था, वह हृद्गति रूकी या और कुछ हुआ कि एक ही क्षण बाद मृत हो गया—चेतना, संज्ञा, क्रिया—सब समाप्त, यह क्या है ? यह मृत्यु क्या है और इसीके आधार पर सोचें कि यह जीवन क्या है ?

मानव शरीर अथवा अन्य शरीरों के संचालन की जो यह चेतना है—उसे ही तो आत्मा कहा गया है। यह चेतना जब तक है, शरीर को जीवित कहा जाता है और जब तक यह जीवित है तब तक जीवन है तथा जीवन की समाप्ति का नाम ही मृत्यु है। तो क्या जीवन के बाद मृत्यु के रूप में शरीर ही नष्ट होता है अथवा उसकी चेतना भी नष्ट हो जाती है ? यदि शरीर के साथ आत्मा का भी नष्ट होना मान लिया जाय तो फिर नये-नये शरीरों में आत्माएं कहाँ से आयेंगी ?

आत्मा अमर तत्त्व है !

अतः आत्मा अमर तत्त्व है। मृत्यु के रूप में केवल शरीर नष्ट होता है। आत्मा अपने कर्म के अनुसार पुनः नया शरीर धारण करती है अथवा कर्म-विमुक्ति हो जाने पर मोक्षगामी बनती है। आत्मा के लिये शरीर धारण करना वस्त्र-परिवर्तन के समान माना गया है तो प्रश्न उठता है कि यह शरीर क्या है और आत्मा शरीर में आबद्ध क्यों होती है ?

यह दृश्यमान जगत् दो तत्त्वों के मेल पर टिका हुआ है। एक तत्त्व है जीव और दूसरा है अजीव। जीव के ही पर्यायवाची शब्द हैं चैतन्य, आत्मा आदि। यह जीव संसार में इसलिये है कि अजीव के साथ बंध कर जिस प्रकार के कर्म यह करता है उसके फल का भुगतान भी इसको लेना पड़ता है और विभिन्न शरीरों का धारण यही फल है। आत्मा जीव है—चैतन्य है और शरीर अजीव है—जड़ है। जड़ भिन्न-भिन्न

होता है किन्तु चैतन्य जब उसमें मिल जाता है तो वह क्रियाशील हो जाता है। जीवन और मृत्यु का यही रहस्य है। यह अमर तत्त्व शरीर के रूप में बार-बार मरता है और बार-जन्म लेता है। संसार के सारे क्रिया-कलाप एवं संसार स्वयं का क्रम इसी जन्म-मरण के चक्र पर चलता है।

आत्मा की कर्म-संलग्नता

जब आत्मा मानव शरीर अथवा अन्य शरीर को धारण करती है तो वह एक नये जीवन के रूप में संसार के रंगमंच पर आती है। तब उस जीवन में जिस प्रकार के क्रिया-कलाप होते हैं, वैसे वैसे कर्म उसके साथ संलग्न होते हैं। इन कर्मों को पुद्गल रूप ही माना गया है। कर्म जड़ होते हुए भी संलग्न होने में उसी प्रकार सक्रिय बनते हैं जिस प्रकार तेल मर्दन कर लेने पर बालू रेत पर सो जाने से रेत के कण उस शरीर के साथ स्वयं चिपक जाने में सक्रिय होते हैं। जीवन में शुभ विचार आया, शुभ कार्य किया तो शुभ कर्म-पुद्गल संलग्न होंगे और अशुभ विचार या कार्य के परिणाम रूप अशुभ कर्म संलग्न होंगे। यह कर्मों का आत्मा के लिये एक बंधन हो जाता है जो शरीर के छूट जाने पर भी आत्मा से नहीं छूटता।

शुभ या अशुभ जिस प्रकार के कर्म होते हैं, उनका इस या आगामी जीवनों में आत्मा को फल भुगतना होता है। शुभ कर्मों के फलस्वरूप अच्छा जीवन और उसमें अच्छे संयोग मिलते हैं तो अशुभ कर्मों का फल अशुभ परिस्थितियों के रूप में मिलता है। कर्मवाद का यही आधार है जिससे यह प्रेरणा मिलती है कि जीवन में अच्छे कार्य किये जाय, श्रेष्ठ विचार एवं वृत्तियाँ अपनाई जाय तथा इस "मैं" को ... कर इसे कर्मों के बन्धन से मुक्त किया जाय।

आत्मानुभूति की जागरणा

जड़ और चेतन तत्वों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह 'मैं' शरीर में बैठा है, फिर भी शरीर से अलग है और शरीर से ऊपर है, क्योंकि यह "मैं" नहीं तो शरीर नहीं। अतः जिसके आश्रय से यह शरीर है, वह यह 'मैं' है, आत्मा है। इस दृष्टि से आत्मा इस शरीर रूपी एंजिन का ड्राइवर है।

आत्मानुभूति की जागरणा का रहस्य इस वस्तुस्थिति को समझने में रहा हुआ है कि एंजिन ड्राइवर को चलावे या कि ड्राइवर एंजिन को चलावे। शरीर पर आत्मा का अनुशासन हो या वह शरीर के अनुशासन में दबी रहे? अनुशासन का झगड़ा इसलिये है कि जड़ और चेतन दोनों मिल कर भी सही दशा में अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं। चैतन्य का स्वभाव ज्ञान एवं शक्ति रूप है एवं उसका अस्तित्व अजरामर है तो जड़ ज्ञान शून्य एवं निर्जीव होता है और नश्वर भी होता है। एक तरह से दोनों के स्वभाव विपरीत हैं जो एक दूसरे को एक दूसरे की दिशा में खींचते हैं। इसमें भी अनुशासन का झगड़ा स्वयं आत्मा के साथ है। जब आत्मा की ज्ञान दशा सुषुप्त होती है— कर्मठता जागती नहीं है तो उसकी अपनी असली अनुभूति भी शिथिल बनी रहती है। वैसी अवस्था में एंजिन का स्टीयरिंग उसके हाथ से छूट जाता है—उस अवस्था को ही यह कह दें कि चैतन्य जड़ के अनुशासन में हो गया है। आत्मा का अनुशासन तब माना जाय जब स्टीयरिंग ड्राइवर के हाथ में हो।

आत्मानुभूति की जागरणा की स्थिति यही है कि एंजिन का स्टीयरिंग ड्राइवर के हाथ आवे और बना रहे।

आत्मा की आवाज को सुनें

किसी भी जीवधारी की आत्मा कभी भी जागृति या संज्ञा से सर्वथा हीन नहीं होती। संज्ञा के दब जाने की दशाओं में अन्तर हो सकता है किन्तु वह सर्वथा नष्ट नहीं होती क्योंकि आत्मा का मूल स्वभाव

ज्ञानमय है—चेतनामय है। एक दर्पण पर अधिक से अधिक मैला पड़ जाय, उसमें प्रतिबिम्ब दीखना तक बन्द हो जाय, फिर भी उसकी प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता सम्पूर्णतः नष्ट नहीं होती। मैल जितना और जिस कदर साफ किया जायगा तो प्रतिबिम्बित होने की उसकी उतनी क्षमता भी निखरती जायगी और पूरी सफाई हो जाय तो एकदम स्वच्छ प्रतिबिम्ब भी उसमें नजर आ सकता है।

आत्मा के साथ भी कर्मों का जो मैल लगा रहता है, वही इसकी ज्ञान एवं चेतना शक्ति को दबाता रहता है एवं इसे अपने "मैं" से भी विस्मृत बनाये रखता है। जितने सुविचार एवं सदाचरण से इस मैल को धोने की कोशिश की जाती है, आत्मा का मूल स्वरूप भी निखरता जाता है। इसमें जितनी ज्यादा सफाई आती है, इसका बल बढ़ता जाता है, जितनी यह सशक्त होती है, चेतना जागृत होती है—संज्ञा सुगठित बनती है। और जब ड्राइवर होशियार होता है तो स्टीयरिंग मजबूती से उसके हाथों में बना रहता है और गाड़ी उसी दिशा में चलती है जिस दिशा में वह उसे चलाना चाहता है।

यह स्तर आत्मा की आवाज को सुनने से बनता है। आत्मा की आवाज कैसे उठती है? दबी से दबी आत्मा भी बोलती है—यह एक तथ्य है और ज्योंही उस बोलने को सुना जाय एवं उसके अनुसार आचरण किया जाय तो वह आत्मा विकास का नया करवट भी बदलती है। अपने अनुभव का ही एक दृष्टान्त लें। आप एक व्यक्ति से मिलने गये, वह उस समय रुपये गिन रहा था—गिड्डियाँ खुली हुई पड़ी थी। आपका स्वागत करने वह उसी हालत में उठकर जलपान की सामग्री लेने अन्दर चला गया। अब आपके भीतर जड़-चेतन का युद्ध क्या होगा? जड़ कहता है—न पता चले उतने नोट चुपके से लेकर जेब में भर दो। तभी आत्मा की आवाज उठती है—नहीं, ऐसा न करो—यह अनर्थ है। जिनके जीवन में नींद गहरी होती है, वे आत्मा की आवाज को दबा देते हैं और नोट जेब में रख लेते हैं। जिनकी कुछ जागृति होती है उनके भीतर यह द्वन्द्व जरा तेजी से चलता है और बाद में होशियार

डाल देते है, किन्तु जिनकी जागृति पुष्ट होती है, वे इस द्वन्द्व में जड़ को परास्त कर देते हैं।

आत्मा की आवाज सभी जीवनधारियों में उठती है, किन्तु उसका अनुशीलन एवं उसका विकास उसे सुनने एवं उसके अनुसार करने पर आधारित रहता है।

आत्म-विकास का सही अर्थ

जब तक ड्राइवर नशे में पड़ा रहेगा और गाड़ी अपने ढंग से चलती रहेगी तो वह गलत और हानिकारक परिणाम पैदा करेगी ही तथा इन परिणामों का भुगतान गाड़ी को नहीं, ड्राइवर को करना पड़ेगा। आत्मा जब तक मूर्छाग्रस्त रहती है, वह शारीरिक एवं पौद्गलिक सुखों की वितृष्णा में अपने स्वरूप को क्षतिग्रस्त बनाती रहती है एवं सच्चे विकास से दूर हटती रहती है। अतः आत्म-विकास का सही अर्थ यह होगा कि आत्मा अपनी आवाज को शरीर से मनवावे और शरीर वही कर सके जिसकी आज्ञा आत्मा दे, तब सचेत ड्राइवर के हाथ खुद ड्राइवर भी सुरक्षित रहेगा तथा गाड़ी भी सुरक्षित रहेगी।

यह कब होगा ? जब आत्मा अपने मूलस्वरूप को प्राप्त करने की दिशा में उन्मुख बनेगी। कर्म बन्धन से ज्यों-ज्यों वह मुक्त होती जायगी, वह ऊर्ध्वगामी बनेगी क्योंकि वह हल्की होती जायगी। विकास का तात्पर्य है ऊपर उठना और जब आत्मा हल्की बनती हुई ऊपर और ऊपर उठती जायगी तो विकास के चरम बिन्दु तक भी पहुँच सकेगी। सिद्धान्त-दर्शन एवं जीवन दर्शन के बाद तीसरे सोपान पर आत्म-दर्शन का क्रम रखने का यही अभिप्राय है कि जीवन में जब ज्ञानार्जन करके आचरण को पुष्ट बना लिया जाता है तब अन्तरानुभूति सशक्त बनती है और आत्मानुशासन प्रबल होता है।

चैतन्य का अनुशासन हो तो निश्चित रूप से प्रकाश की ओर ही गति होगी—जड़त्व का अंधकार उसे घेर नहीं सकेगा। संसार में रहते

हुए तथा शरीर-धर्म निबाहते हुए जड़ का जो आश्रय चाहिये, वह उसे प्राप्त करेगा किन्तु उसकी जड़ से कोई अपेक्षा नहीं रहेगी। लक्ष्य चैतन्य-विकास एवं समता प्राप्ति का ही रहेगा।

चिन्तन, मनन एवं स्वानुभूति

आत्मानुभूति के सघन एवं स्पष्ट होने के बाद चिन्तन एवं मनन की मनोवृत्ति और अधिक गंभीर एवं अन्तर्मुखी बनती जायगी। जितनी अधिक गंभीरता बढ़ेगी, उतनी ही उपलब्धि भी महत्वपूर्ण होती जायगी। चिन्तन और मनन की शिला पर घिसती हुई स्वानुभूति तीक्ष्णतर बनती हुई अधिक समतामयी बनती जायगी। स्पष्ट स्वानुभूति की दशा में पतन की आशंका एकदम घट जाती है। प्रत्येक विचार एवं प्रत्येक कार्य की कसौटी जब स्वयं की ही अन्तर्चेतना बन जाय तब खरेपन की जांच हर समय होती रहती है और ऐसे जागरण की अवस्था में भला पतन का खतरा खड़ा रह ही कैसे सकता है ?

चिन्तन एवं मनन की मनोवृत्ति पर अधिक बल देने का यही कारण है कि मनुष्य जीवन इस समता के मार्ग पर स्वावलम्बी बन जाय। उसकी स्वानुभूति मार्ग के भटकाव का तुरन्त संकेत दे देगी तो चिन्तन एवं मनन की मनोवृत्तियां पुनः सही रास्ते को खोज निकालेगी।

एक चिन्तक स्वयं के जीवन को तो समुन्नत बना ही लेता है किन्तु सारे विश्व के लिये ऐसा आलोक भी उत्पन्न करता है जिसके प्रकाश में वह पीढ़ी ही नहीं, आनेवाली कई पीढ़ियाँ भी विकास का सन्देश आदर्श रूप में ग्रहण करती रहती है। चिन्तन तथा मनन की जीवन्त प्रणाली सम जीवन की दृष्टि से पुनः सबल बननी चाहिये।

सत्साधना की त्रिधारा का प्रवाह

"जिन खोजां, तिन पाइयां"—किन्तु यह प्राप्ति तब होती है जब गहरे पानी पैठ होती है। समुद्र में जो जितना गहरा गोता लगाता है, उतने

ही मूल्यवान् मोतियों की उपलब्धि कर सकता है। उसी प्रकार चिन्तन, मनन एवं स्वानुभूति की गहराई में जो जितनी पैठ करता है, उतने ही सत्साधना के मुक्ताकण उसे प्राप्त हो सकते हैं। तब एक तरह से जीवन के रेगिस्तान में सत्साधना की एक नहीं, त्रिधारा का प्रवाह इस गति से प्रवाहित होता है कि जीवन की खेती लहलहा उठती है।

सत्साधना की यह त्रिधारा है—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की त्रिधारा, जो सम्यक्त्व की निर्मलता में बहती हुई आत्म-स्वरूप को भी निर्मलता की ओर ले जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की त्रिधारा बह जाने के बाद आत्मदर्शन स्पष्टतर बनता जाता है। तब बाहर से अन्तराभिमुखी वृत्ति बनती है और वह अन्तर की समस्त तरलता को बाहर उडेल देने के लिये आतुर बन जाती है। यह जगत् की सेवा में जीवन-समर्पण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

आत्मवत् सर्व भूतेषु

आन्तरिकता की इस अभ्युत्थानी अवस्था में संसार के समस्त जीवनधारी अपनी ही आत्मा के तुल्य प्रतीत होने लगते हैं। उसकी आत्मीयता समूचे विश्व को बांध लेती है—वह इस दृष्टि से कि सहानुभूति एवं सहयोग का स्नेह उसके अन्तर से उद्भूत होकर सब ओर सब पर फैल जाता है। तब समस्त प्राणियों के साथ जिस आत्मीय समता की स्थापना होती है, वह अपने सुख-दुःख को तो भुला देती है परन्तु दूसरों के सुख दुःख को अपना सुख-दुःख बना देती है—आत्मवत् का यही अन्तर्भाव होता है। अपनी आत्मा वैसी सबकी आत्मा—इस समता दृष्टि से भी आगे ऐसे आत्म-दर्शी की यह भावना सजग हो जाती है कि वह अपनी आत्मा को भी एक प्रकार से सबकी आत्मा में निमज्जित कर देता है, याने कि उसका जीवन पूरे तौर पर लोकोपकारी बन जाता है।

आत्म-दर्शन की मूल गत भावना ही यह होनी चाहिये कि वह अपने निजी स्वार्थों के संकुचित घेरों को तोड़ता चला जाय। जितना अपने ही स्वार्थों का खयाल है, उतना ही विषमता को गले लगाना है। लोकोपकारी वही बन सकता है जो अपने स्वार्थों को तिलांजलि दे देता है। उसके लिये प्राथमिक एवं प्रमुख लोकहित हो जाता है। लोकहित की सतत चेष्टा नहीं हो तो 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' का अनुभाव भी कार्य रूप नहीं ले सकेगा।

आत्म-दर्शन की दशा में

समता व्यक्ति के जीवन में आवे तो समता समाज के जीवन में जागे—इस उद्देश्य की श्रेष्ठ पूर्ति आत्म-दर्शन की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रहने से ही संभव बन सकेगी। आत्मानुभूति एवं अन्तर्चेतना की जागृत दशा में जो प्रगति की जायगी, वह व्यक्ति एवं समाज दोनों के जीवन को प्रभावित करेगी। आत्म-दर्शी व्यक्ति एक प्रकार से परिवर्तनशील समाज के नेता होंगे—सामान्य जन जिनका विश्वासपूर्वक अनुसरण कर सकेंगे।

आत्म-दर्शन की दिशा में पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से समता-साधक को नियमित रूप से कुछ भावात्मक अभ्यास करने होंगे जो इस प्रकार हो सकते हैं :—

:१:

प्रातः सूर्योदय से पूर्व एक घड़ी आत्म-चिन्तन एवं सायं आत्मालोचना

महावीर ने यह अमर वाक्य उच्चरित किया था कि—"समयं, गोयम, मा पमायए" अर्थात् हे गौतम, समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो। समय को मिनिट व सैकंड से भी छोटा पटक माना गया

है। समय का कोई मूल्य नहीं और बीता हुआ समय कभी वापिस लौटकर आता नहीं, अतः आत्मदर्शी के लिये समय का लोकोपकार में सदुपयोग एक आवश्यक कर्त्तव्य माना जाना चाहिये।

इस हेतु अभ्यास रूप पहले वह प्रातः सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घड़ी यह आत्म-चिन्तन करे कि उस दिन उसे अपनी चर्या क्या रखनी है जो उसके समता-लक्ष्य के अनुकूल हो। यही समय गहन विषयों पर चिन्तन एवं मनन का भी होना चाहिये। यह आत्म-चिन्तन उसकी स्वानुभूति को तीव्रतर बनाता रहेगा।

इसी प्रकार सायं आत्मालोचना का समय निकालना भी इस कारण आवश्यक है कि दिन भर में उसने क्या अकरणीय किया और क्या करणीय नहीं किया—इसका लेखा-जोखा भावी सावधानी की दृष्टि से जरूर लगाया जाय। यह नित्य का क्रम आत्मदर्शी की विकास गति में शिथिलता कभी भी नहीं आने देगा। अभ्यास नियमित नहीं रहे तो संभव है, प्रमादवश ही शैथिल्य आ जाय, क्योंकि शरीर में रहा हुआ सबसे बड़ा शत्रु प्रमाद ही होता है।

प्रातः और सायं के इस कार्यक्रम को आत्मदर्शी के लिये अनिवार्य माना जाना चाहिये।

:२:

सत्साधना का नियमित समय निर्धारण एवं उस समय के कर्त्तव्य

समता-साधना की अन्तरंग धारा तो हर समय प्रवाहित होती रहेगी किन्तु इसके प्रवाह को पुष्ट करते रहने की दृष्टि से सत्साधना के लिये नियमित समय का निर्धारण भी आवश्यक है ताकि समता-साधक का बाह्य जीवन भी समता-प्रसार में नियोजित हो तथा उसके प्रभाव से सभी क्षेत्रों में समता के लिये चाह गहरी बने।

सत्साधना के क्षेत्र में किन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों को हाथ में लिया जा सकता है जो यथाशक्ति यथाविकास पूरी की जा सकती हों। ऐसी

प्रवृत्तियों के लिये पूरा या अधिक से अधिक समय दिया जा सके—यह तो श्रेष्ठ है ही, किन्तु पहले अभ्यास की दृष्टि से नियमित समय निकाला जाय तो उससे सेवा-समर्पण का क्षेत्र बढ़ता रहेगा।

सत्साधना के ऐसे बाह्य क्रिया कलापों में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि उस समय यथाशक्य अधिक से अधिक पाप प्रवृत्तियों का निरोध किया जाय तथा समतामय प्रवृत्तियों का आचरण किया जाय। आत्म-चिन्तन के आधार पर समाज में राजनीतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार की समता-स्थापना हेतु नये शान्तिपूर्ण मार्ग खोजे जांय और ऐसी पद्धतियों का विकास किया जाय जो समाज के विस्तृत क्षेत्र में भावात्मक तथा कार्यात्मक एकरूपता पैदा कर सकें, क्योंकि स्वतंत्र चिन्तन पर आधारित ऐसी एकरूपता ही समता के वातावरण को स्थायी एवं सुदृढ़ बना सकेगी।

:९:

सत्साहित्य का निरन्तर स्वाध्याय
एवं मौलिकता की सृष्टि—

हमारा अपना चिन्तन तबतक पूर्ण नहीं बन सकेगा, जबतक हम दूसरे प्रबुद्धजन के अतीत के या वर्तमान के चिन्तन को समझ कर अपने स्वयं के चिन्तन की कसौटी पर न कसें और उसकी उपयोगिता पर न सोचें। "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"—यह सत्य उक्ति है। एक-एक के से नये नये विचार उभरते है तथा उनसे नये-नये तत्त्वों का ज्ञान होता है। न जाने किस अज्ञात प्रतिभा के मस्तिष्क से युग-बोध के विचार प्रस्फुटित हो जांय? प्रत्येक आत्मा ज्ञानधारी होती है तब यह कौन कह सकता है कि चिन्तन की धारा में कौनसी आत्मा कितनी गहरी उतर विचारों के नये-नये मोती ढूंढ़ लावे? इसके सिवाय अतीत के महापुरुषों द्वारा ढूंढ़े हुए विचार-मोती भी शास्त्रों या सूत्रों के रूप में हमारे सामने विद्यमान हैं।

अतः एक आत्मदर्शी को निरन्तर स्वाध्याय की आदत बनानी चाहिये और वह स्वाध्याय इस सत्साहित्य का हो। स्वानुभूति की सक्षम दशा में यह स्वाध्याय नये-नये चिन्तन व मनन तथा उसके फलस्वरूप नई मौलिकता को जन्म देने वाला होगा। सब विचारों को जानकर जब उन्हें अपने भीतर पकाया और पचाया जाता है, तब उसके यथार्थ निष्कर्ष रूप अपने ही मौलिक विचार पैदा होते हैं। स्वानुभूति एवं स्वाध्याय के साथ चिन्तन-मनन की नियमित प्रवृत्ति में मौलिकता की सृष्टि होती है, जिसकी सहायता से आत्मदर्शी सारे संसार को नया युगपरिवर्तनकारी विचार दे सकने का सामर्थ्य संचित कर सकता है।

:४:

"मैं किसी को दुःख न दूं",
"मैं सबको सुख दूं।"—

आत्म-दर्शन का सार व्यक्ति के मन में इस रूप में जागना चाहिये कि उसका यह मानस बन जाय—"मैं किसी को दुःख न दूं—मैं सबको सुख दूं।" उसका जब यही मानस जब आचरण में उतरता जायगा तो वह अपने क्रिया-कलापों में अहिंसा के दोनों पक्षों को सक्रिय बना लेगा। किसी को दुःख न देने में वह अपने स्वार्थों को समेट लेगा और उन्हें किसी भी दशा में उस दायरे से बाहर नहीं निकलने देगा, जहाँ पहुंच कर वे किसी भी अन्य जीवनधारी के प्राणों को किसी भी प्रकार से कष्टित बनावें।

सबको सुख देने की भावना इस दिशा की क्रियात्मक भावना होगी कि वह अपने लोकोपकार को विस्तृत बनावे—उसे समता का सुदृढ़ धरातल प्रदान करते हुए। इस वृत्ति में वह अपनी आत्मा की सेवा-शक्ति के अत्युच्च विकास के साथ सारे विश्व की परिधि तक फैला देगा। स्वार्थों को समेटो और आत्मीयता को फैलाओ—यह एक आत्मदर्शी का नारा ही नहीं, आचरण का सहारा होना चाहिये।

:५:

आत्म-विसर्जन की
अन्तिम-स्थिति तक—

आत्म-दर्शन की आखिरी मंजिल है आत्म-विसर्जन। त्याग, सेवा और समता-दृष्टि से श्रेष्ठतर समता—स्थिति के निर्माण हित अपने आपको भी भुला देना और लक्ष्य के लिये उसे विलीन कर देना सबसे बड़ी तपस्या है। इस कठोर तपस्या के माध्यम से आत्म-विकास की इस अन्तिम स्थिति तक पहुंच जाने के बाद तो फिर परमात्म-दर्शन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आत्म-दर्शन से परमात्म दर्शन तक की यात्रा की पूर्णाहुति चिन्तन एवं कार्य शैली पर आधारित रहती है। आदर्श चिन्तन वर्षों और युगों के मार्ग को घड़ियों में तय कर सकता है और उसके अनुसार जब चारित्र्य और आचरण का बल लगता है तो यह समूची यात्रा भी अल्प समय में पूरी की जा सकती है। इसके विपरीत जागरण न होवे तो आत्म-दर्शन ही कठिन होता है तथा आत्म-दर्शन के बाद भी गति-मति का क्रम ढीला और धीमा हो तो परमात्म दर्शन की लक्ष्य प्राप्ति लम्बी या दुरूह भी बन सकती है। समता साधना की सफलता को साधक की शक्ति की अपेक्षा होती है – अब यह साधक पर निर्भर है कि दूरियों और समय की मात्रा पर वह कितनी कैंची चला सकता है?

आनन्द पथ का पथिक

सच्चा आनन्द क्या है? उसका स्थायित्व कितना होता है? उसके घनत्व का उल्लास कैसा होता है और उसकी प्रतीति कितनी सुखद होती है? इन सब प्रश्नों के सही उत्तर आत्म-दर्शन के आनन्द पथ का एक सफल पथिक ही दे सकता है।

आनन्द की दो धाराएँ दिखाई देती हैं। एक धारा तो वह जो संसारी जीवों की प्रत्यक्ष जानकारी में आती है कि अच्छा खाने, अच्छा पीने या अच्छा पहने से शरीर को जितना ज्यादा सुख मिलता है उससे आनन्द होता है। किन्तु सचमुच में यह आनन्द नहीं होता है क्योंकि यह क्षणिक होता है और इसका प्रतिफल दुःख रूप में प्रकट होता है। इसे आनन्द का आभास मात्र कहा जा सकता है जो भी झूठा होता है। अच्छा खाने में सुख है—खाते जाइये, खाते ही जाइये—परिणाम सुख रूप होगा या दुःख रूप ? फिर अच्छा खाने से आनन्द होता है—यह कैसे कह सकेंगे ?

किन्तु आनन्द की दूसरी धारा है जो अन्दर से प्रकट होती है और जिसका सामान्य अनुभव सभी को होता है किन्तु उस अनुभव को परिपुष्ट बनाते जाने का निश्चय आत्मदर्शी ही किया करते हैं। आपने किसी कराहते हुए असहाय रोगी को अस्पताल तक हो पहुँचा दिया—कोई बड़ा काम नहीं किया आपने, फिर भी उस काम से भी आपके भीतर एक आनन्द होता है। यह आनन्द ऐसा होता है कि जो विकृत नहीं होता, नष्ट नहीं होता तथा जितने अंशों में ऐसे अच्छे काम ज्यादा से ज्यादा किये जाते रहेंगे, इस आनन्द की मात्रा भी निरन्तर बढ़ती ही जायगी। इसे भी सच्चा आनन्द कह सकते हैं। लोकोपकारी आत्मदर्शी के लिये ऐसा आनन्द स्थायी अनुभाव बन जाता है जो आत्म-विसर्जन की अन्तिम स्थिति में यह परमानन्द हो जाता है।

जो आत्मदर्शी होता है, वह समतादर्शी होता है तथा आनन्द का ऐसा पथ उस पथिक के लिये ही होता है।

०

:७:

परमात्म-दर्शन के समतापूर्ण लक्ष्य तक

"अप्पा सो परमप्पा"— आत्मा ही जब अपने पूर्ण समतामय स्वरूप तक पहुंच जाती है, तब वही परमात्म-स्वरूप धारण कर लेती है। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा का सिद्धान्त कर्मण्यता का अनुप्रेरक सिद्धान्त है। कोई भी विकास और विकास का चरम बिन्दु तक इस आत्मा की पहुंच से बाहर नहीं है। वास्तव में असंभव शब्द मानव जीवन के शब्दकोष में कहीं भी नहीं है।

मानव जीवन में इस कारण सत्साहस की प्रवृत्ति अपार महत्त्व रखती है। कायर के लिये सब कुछ असंभव है, किन्तु साहस के लिये कुछ भी असंभव नहीं। आत्मा से परमात्मा तक का लक्ष्य इसी सत्साहस की समतापूर्ण उपलब्धि के रूप में प्रकट होता है। मनुष्य जितना गिरावट के खड्डे में गिरा रहता है, उतने ही जीवन के उसके सभी पहलू विषम बने रहते हैं। विषमता से अधिक से अधिक विकारों का प्रवेश होता रहता है और जितने अधिक विकार, उतनी अधिक दुर्बलता और जहाँ दुर्बलता है, वहाँ कायरता ही तो रहेगी—साहस का सद्भाव ही वहाँ कैसे हो सकता है?

यह कायरता कैसे मिटे ?

आपके बाहर के अनुभवों ने ही यह कहावत बना रखी है—चोर के पैर कच्चे होते हैं। चोर कौन ? जिसका जो प्राप्य नहीं है, उसे जब वह चुपके से लेना चाहता है तब उसे चोरी करना कहते हैं और चोरी करने वाला चोर होता है। इस वृत्ति को समझ कर अपने जीवन के हर काम पर एक निगाह डालिये कि आप का यह काम कहीं इस लाइन पर तो नहीं चल रहा है ?

जहाँ चौर्य वृत्ति है, वहाँ अवश्य कायरता मिलेगी। विषमता बढ़ती जाती है और कायरता बढ़ती जाती है। कायरता बढ़ने से किसी भी रूप में पराक्रम का पैदा होना कठिन बन जाता है। साहस और पराक्रम का जोड़ा साथ हो तो चलता है—विचार मजबूत तो काम मजबूत। साहस और पराक्रम पैदा होगा विषमता काटने से, समता लाने से। बाहर और भीतर के जीवन में जहाँ-जहाँ विषमता है, वहाँ-वहाँ उस पर प्रहार करते रहना होगा। ज्यों-ज्यों ये प्रहार किये जायेंगे, साहस और पराक्रम का बल भी बढ़ता जायगा, क्योंकि कायरता मिटती जायगी।

विषमता पर किये जाने वाले ये प्रहार सबसे पहले इसी चौर्य-वृत्ति पर आघात करेंगे। अन्तर की आवाज तुरन्त बता देती है कि कहाँ और कितना उसका प्राप्य है और क्या उसका प्राप्य नहीं है ? उस आवाज के निर्देशन में चलते रहे तो कहीं भी भूल हो जाय—इसकी संभावना नहीं रहती है। जो आत्म-सुख की आवाज है, वह समता का पाथेय है और जितना शरीर-सुख की लालसा में दौड़ता है, वह विषमता के अंधकार में भटकता है। समता की ओर गति करने की लगन जब लग जायगी तो सबसे जीवन में पैठी हुई कायरता भी मिटने लगेगी।

पैर कहाँ-कहाँ कच्चे हैं और क्यों ?

प्रत्येक विकासकामी मानव का पहला कर्तव्य यह होना चाहिये कि वह अपने प्रत्येक चरण पर सदसद् का एवं उसके फलाफल का विवेक सतत रूप से जागृत रखे। वह जो सोचता, बोलता और करता है— उसका उसके स्वयं के जीवन पर, उसके साथियों के जीवन पर एवं समुच्चय रूप से समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा—यह देखते एवं महसूस करते रहने की सतर्कता होनी चाहिये।

वर्तमान जीवन क्रम को देखें कि पैर कहाँ-कहाँ कच्चे हैं और क्यों है? इसके लिये पहले दो पक्ष लें—व्यक्ति का जीवन और समाज का जीवन और फिर इनके भी दो-दो पक्ष लें—बाह्य जीवन एवं आन्तरिक जीवन। ये चारों पक्ष अन्योन्याश्रित रहते हैं। व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से व्यक्ति का बाह्य जीवन प्रभावित होता है तो उससे समाज का बाह्य जीवन प्रभावित होता है। फिर जैसा समाज का बाह्य जीवन सामूहिक रूप से ढलता है, उसी के आधार पर समाज का आन्तरिक जीवन याने किसी भी समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का निर्माण होता है। यही सभ्यता एवं संस्कृति फिर दीर्घकाल तक तदनुसार व्यक्ति के बाह्य एवं अन्तर को प्रभावित करती रहती है। व्यक्ति समूह का अंग होता है तो समाज होता है व्यक्ति-व्यक्ति का समुच्चय रूप।

इसलिये जहाँ-जहाँ जिस-जिस पक्ष में पैर कच्चे रहते हैं—उसका प्रभाव कम ज्यादा सभी पक्षों पर पड़ता है और यह काल-क्रम चलता रहता है। सामाजिक स्वैच्छिक नियंत्रण प्रणालियाँ यदि सुदृढ़ नहीं होंगी तो व्यक्ति की कामनाएँ साधारण रूप से उद्दाम बनेगी और वह आत्म-विस्मृत बन कर पशुता की ओर मुड़ेगा। इसी के साथ यदि व्यक्ति अपने और अपने साथियों के हितों के साथ सामंजस्य बिठाकर चलने का अभ्यस्त नहीं हुआ तो उससे जिस सभ्यता एवं संस्कृति की रचना होगी, वह न सर्वजन हितकारी होगी और न किसी भी दृष्टि से आदर्श। अतः पग-पग पर आने वाली दुर्बलताओं के प्रति सतर्क रहने की दृष्टि से ही समूचा जीवन क्रम चलना चाहिये।

तीसरे के बाद यह चौथा सोपान

सिद्धान्त-दर्शन, जीवन-दर्शन एवं आत्म-दर्शन के तीन सोपानों के बाद ज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में यह जो चौथा सोपान परमात्म-दर्शन का है, यहाँ तक पहुँचते हुए ऐसी सतर्कता का वैचारिक निर्माण हो ही जाना चाहिये। जब विषमता के विकराल रूपों की जानकारी के बाद समता के सिद्धान्त, जीवन प्रयोग एवं आत्मानुभूति जागरण का सम्यग् ज्ञान हो जाय तब सभी क्षेत्रों की दुर्बलताओं एवं उनके कारणों का ज्ञान एवं उनसे बचते रहने की सतर्कता उत्पन्न हो जाना अनिवार्य है, क्योंकि परमात्म-दर्शन की प्रेरणा ही आत्मा एवं परमात्मा को समकक्ष पहुँचाने की होती है।

आत्मा एवं परमात्मा के अन्तर को यदि एक ही शब्द में बताया जाय तो वह है विषमता। यह स्वरूप की विषमता होती है। अन्तर मिटता है तब स्वरूप-समता आती है। समूचा मैल कट जाता है तो सम्पूर्ण निर्मलता की आभा प्रस्फुटित होती है। यह आभा ही आत्मा की परम स्थिति है और उसे परमात्मा बनाती है। इस कारण मूल समस्या यह है कि इस अन्तर को समझा जाय और उसे मिटाने की दिशा में आगे गति की जाय।

समता इन्सान और भगवान् की

एक शेर है—"खुदी को कर इतना बुलन्द कि खुदा तुमसे खुद आके पूछे।" इसका भाव भी यही है कि खुद से खुदा बनता है, मगर सवाल है खुद को उस हद तक बुलन्द बनाने का। इन्सान और भगवान की समता का मूल अवरोध है कर्म और मूल शस्त्र है कर्म। अवरोध वह कर्म जो किया जा चुका है और जिसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलेगा और शस्त्र है वह कर्म जिसकी साधना करके कर्म-बंध को काट देना है। कर्म का सीधा अर्थ है कार्य। कार्य जो किया जा

चुका है, वह फल अवश्य देता है—जैसा काम, वैसा फल। इसलिये पहली बात तो यह है कि अच्छा और भला काम किया जाय, जिससे शुभ फल मिले। अच्छा और भला काम पहिचाना जाता है बुद्ध की महसूसगिरी पर जो सुधर कर पैनी बन चुकी हो।

इन्सान और भगवान् की समता में अवरोध बने हुए होते हैं पूर्वार्जित कर्म। आत्मा को अनादि अनन्त कहा है तो पहले के कुविचारों एवं कुकृत्यों का जितना कर्म बन्ध इसके साथ लगा हुआ है, उसे काटने का और नया कर्म बन्धन होने देने का दुहरा प्रयास साथ-साथ करना होगा। एक गन्दे पानी का पोखर है, उसे साफ करना है तो दुहरा काम साथ-साथ करना पड़ता है। एक तो उसमें बराबर गन्दा पानी लाने वाले नालों को रोकना और दूसरा, उसके गन्दे पानी को बाहर फेंकना। तब कहीं जाकर उस पोखर की सफाई हो सकेगी। आत्मा के मैल रहित होने का अर्थ ही परमात्म-स्वरूप तक पहुंचना है। जब दर्पण अपनी उज्ज्वलतम सीमा तक स्वच्छ कर लिया जाता है तो अपनी निर्मलता से न स्वयं वही सुदर्शनीय होता है बल्कि जो भी उसके समक्ष आता है उसके प्रतिबिम्ब को निखार कर वह उसे भी सुदर्शनीय बना लेता है। इन्सान और भगवान् की समता की यही आदर्श स्थिति होती है।

यह कर्मण्यता का मार्ग है

यह आदर्श समता कर्मण्यता के कठोर मार्ग पर चल कर ही प्राप्त की जा सकती है। कर्मण्यता बन्धनों को काटने में—मैल को साफ करने में और आने वाले बन्धनों तथा मैल से दूर रहने में। यह सतर्क वृत्ति एवं पराक्रम दशा समता की आराधना से बनती और पनपती है। विचारों में समता, वाणी में समता तथा आचरण में समता—तभी कर्मण्यता के मार्ग पर साधक के चरण तेजी से और मजबूती से आगे बढ़ते हैं।

पूर्वार्जित कर्मों को परमात्म-स्वरूप के बीच में आने वाले आवरण के रूप में देखा गया है। जैसे सूर्य के बीच में बादल आकर उसके तेज को

ढक लेते हैं, उसी तरह ये आवरण आत्मा के अनन्त तेज को ढक लेते हैं। ऐसे कर्म बन्धनों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. *ज्ञानावरणीय कर्म*—जब स्वयं ज्ञानार्जन न करके दूसरों के ज्ञानार्जन में बाधाएँ पैदा की जाती है अथवा पाखंड या दंभ से अज्ञान या कुज्ञान की प्रतिष्ठा की जाती है तो ऐसा करने वाले के ज्ञान पर आवरण लग जाते हैं। ज्ञान और सम्यग् ज्ञान अथवा समतामय ज्ञान से यह जीवन दूर हटता जाता है, वैचारिक दृष्टि से जबतक वह पुनः सजग नहीं बनता और ज्ञानाराधन के लिये कठोर ओवट पैदा नहीं करता, तब तक वह आवरण को काट नहीं सकता है। किन्तु वह जब अपना निश्चित मानस बनाकर अज्ञान से लड़ पड़ता है तो ज्ञान का सूरज भी उगा कर रहता है।

२. *दर्शनावरण कर्म*—"दृष्टि दर्शन" के अनुसार सामान्य अवबोध—दर्शन शक्ति को अवरुद्ध करने वाला कर्म। इस आवरण के कारण आत्मा वस्तु के सामान्य अवबोध से वञ्चित रहती है।

३. *वेदनीय कर्म* - दूसरों को जैसी वेदना दोगे, वैसी ही वेदना स्वयं को भी मिलेगी। जैसा व्यवहार मन, वचन और काया से दूसरों के साथ किया जायगा, वैसा ही प्रतिफल यह कर्म करने वाले को भी देता है। सुखद व्यवहार से सुखद तो दुखद व्यवहार से दुखद वेदना मिलती है। सम्पत्ति और विपत्ति में जब अनुभूति की एकरूपता आती है तो यह कर्म कटने लगता है।

४. *मोहनीय कर्म*—जीवन में मोहजनित दशाओं एवं मन्द-मिथ्या श्रद्धान से इस आवरण का बन्ध होता है। मोह वृत्ति सबसे अधिक चिकनी होती है जो चैतन्य को न तो स्वरूप बोध की ओर उन्मुख होने देती है और न स्वरूपाचरण की ओर। मोह की प्रबलता इतनी मानी गई है कि अकेला मोह छूट जाय तो सारे कर्मों का वृक्ष हिल उठेगा और गिर जायगा क्योंकि मोह जीवन की सम्पूर्ण विषमता की जड़-रूप होता है। जड़ें हिला दी जाय तो वृक्ष को गिरने में देर नहीं लगती। मुख्यतया मोह के कारण ही राग और द्वेष की वृत्तियाँ बनती हैं। जो आगा है

उस पर राग और जो अपना व अपनों का विरोधी है उस पर द्वेष। इन्हीं वृत्तियों में जीवन अविकासतः लुढ़कता रहता है और जीवन के हर पहलू में विषमता भरता रहता है। अतः इस कर्मराज को काटने का पहला और कड़ा यत्न होना चाहिये, क्योंकि यह सम्पूर्ण सदाचरण का अवरोधक होता है।

५. *आयु कर्म*—जीवन दो, रक्षा करो तो जीवन में आयु की लम्बाई मिलती है। कर्म एक प्रकार से दान का प्रतिदान हो तो होता है। दूसरों को मारो तो आप कहाँ मार से बच सकेंगे? इस तरह यह कर्म अमुक समय तक आत्मा को अमुक योनि में रोक कर रखता है।

६. *नाम कर्म*—इससे गति जाति आदि विभिन्न पर्यायों की प्राप्ति होती है। अच्छे काम से अच्छा नाम कर्म तो उससे अच्छी गति की प्राप्ति। अच्छी गति मिले तो विकास के अच्छे अवसर मिलते हैं। बुरी गति में विकास की संज्ञा ही पैदा नहीं होती।

७. *गोत्र कर्म*—गति और जाति में भी ऊँचा या नीचा स्थान दिलाने वाला यह कर्म होता है।

८. *अन्तराय कर्म*—अन्तराय का अर्थ होता है बाधा। बाधा डालने से बाधा पैदा होती है तो दूसरों की बाधाएँ हटाने से अपनी भी बाधाएँ हटती हैं।। उद्योग करने पर भी जो कार्य-सिद्ध नहीं होता है, उसका कारण यह कर्म होता है।

इन आठ श्रेणियों में सभी प्रकार के पूर्वार्जित कर्मों का समावेश हो जाता है तो आनेवाले नये कर्मों की श्रेणियाँ भी ये ही होती हैं। ये कर्म-बन्धन हर कदम पर विषमता बढ़ाते हैं तो इन्हें काटना व रोकना समता की दिशा में जीवन को अग्रसर बनाता है। जिस मार्ग पर चल कर इन कर्मरूपी शत्रुओं से लड़ा जाता है, वही कर्मण्यता का मार्ग कहलाता है और जो इन शत्रुओं को सम्पूर्णतः परास्त कर देता है, वही वीतराग और अरिहंत कहलाता है। आत्मा इसी मार्ग पर चल कर परमात्मा बनती है।

गुणों के स्थानों को पहिचानें और आगे बढ़ें

प्रत्येक के जीवन में अच्छाई और बुराई—गुण और अवगुण के दोनों पक्ष साथ साथ चलते हैं। जीवन को अवगुणों से मोड़ कर गुण-प्राप्ति की ओर ले जाया जाय—इस दृष्टि से कुछ सोपान बनाये गये हैं ताकि जीवन उस समय कहाँ चल रहा है—यह जानकर उसे ऊपर के सोपानों पर चढ़ाते रहने का तब तक सतत प्रयास किया जा सके, जबतक वह अन्तिम सोपान के लक्ष्य तक न पहुँच जाय। गुणों के ऐसे चौदह स्थानों को गुणस्थान कहा गया है।

जब चैतन्य अज्ञान एवं अन्धविश्वासों के घने बादलों से घिरा रहता है और अपने स्वरूप बोध से अत्यन्त दूर रहता है तब उसकी अत्यन्त निकृष्ट अविकसित अवस्था को प्रथम गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा पर मोह का प्रबल साम्राज्य रहता है फलस्वरूप वह वस्तु-तत्व को अतत्व के रूप में समझता है। इस विपरीत किंवा मिथ्या दर्शन के कारण ही इसे मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

जब मोह का आवरण शिथिल पड़ता है और चैतन्य स्वरूप-बोध की ओर उन्मुख होता है तब आत्म-विकास के प्रथम सोपान पर चरण बढ़ते हैं जिसे दार्शनिक परिभाषा अविरति सम्यग्दृष्टि किंवा चतुर्थ गुण-स्थान कहते हैं। यहीं सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु जबतक स्वरूप बोध की धारा स्थायित्व नहीं ले लेती है तब तक कभी-कभी ऐसी अवस्था भी बनती है कि न स्वरूप-बोध पर दृढ़ प्रतीति हो और न अप्रतीति—तात्पर्य यह है कि जब ऐसी डांवाडोल स्थिति रहती है कि न वस्तु-तत्व पर पूर्ण विश्वास होता है और न अविश्वास। इस अवस्था को मिश्र दृष्टि किंवा तृतीय गुणस्थान कहा गया है।

जब स्वरूप-बोध को प्राप्त करके भी मोह के प्रबल थपेड़ों से आत्मा पुनः अधोगामिनी बनती है तब पतनोन्मुख अवस्था में जबतक स्वरूप-बोध का यत्किञ्चित आस्वाद रहता है; तत्कालीन अल्पसामयिक अवस्था को सास्वादन किंवा द्वितीय गुणस्थान कहते हैं।

पूर्व प्रतिपादित स्वरूप-बोध जब कुछ स्थायित्व ले लेता है और तत्त्व रुचि सुदृढ़ बन जाती है किन्तु वह दृष्टि जबतक कृति में नहीं उतरती तबतक चौथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान रहता है। पर ज्योंही व्रताचरण रूप त्याग प्रारम्भ हो जाता है कि देशविरति रूप पांचवे गुण-स्थान की भूमिका प्राप्त हो जाती है।

आचरण के चरण जब दृढ़ता से आगे बढ़ते हैं तो साधुत्व की स्थिति आने लगती है। जबतक इस स्थिति में प्रमाद-आलस्य नहीं छूटता तबतक छठा गुणस्थान प्रमत्त साधु का रहता है तो प्रमाद छूट जाने पर सातवां अप्रमत्त साधु गुणास्थन आ जाता है। फिर तत्पर रहकर कर्म बन्धनों को जिस-जिस परिमाण में दबाते या नष्ट करते रहते हैं, गुणस्थानों के सोपान आगे से आगे निवृत्ति बादर, अनिवृत्ति बादर, सूक्ष्म सम्पराय, उपशान्तमोह और क्षीणमोह तक इस जीवन को बढ़ाते जाते हैं। मोह को क्षीण कर लिया तो सर्वोच्च ज्ञान - केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश मिल जाता है जो सयोगी केवली का होता है। फिर मामूली क्रियाएँ भी जब समाप्त हो जाती है तो अन्तिम गुणस्थान अयोगी केवली का आ जाता है।

ये गुणों के स्थान हैं, किन्तु इनमें बढ़ जाना या कषायविजय की अपूर्णावस्था तक पुनः गिर जाना मन को कषाय एवं योग वृत्तियों पर निर्भर रहता है। जीवन के जो मूल गुण सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के रूप में होते हैं, इनके साथ विषय, कषाय आदि वृत्तियों का जिस तरह ऊँचा नीचा तारतम्य रहता है उसी परिमाण में सोपानों पर चढ़ना उतरना भी होता है। ज्यों-ज्यों मुख्यतः मोह की प्रकृतियाँ छूटती जाती है, त्यों-त्यों जीवन में गुणों की वृद्धि होती जाती है तथा इस गुण-वृद्धि के अनुसार ही गुणस्थानों का यह क्रम बनाया गया है।

जितनी विषमता कटे, उतने गुण बढ़ें

मन पर निग्रह करना सबसे पहली और सबसे बड़ी बात होती है। मन जब नियंत्रित नहीं होता है तो वह वृत्तियों की विषमता में भटकता

है। एक ओर यह काम-भोग की कामनाओं में फिसलता है तो दूसरी ओर क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में उलझता है। जितना वह विषय और कषाय में फंसता है, उतना ही अधिक मोहाविष्ट होता जाता है। जितना मोह ज्यादा, उतनी ही मन की विषमता ज्यादा। मन विषम तो वचन विषम औ र सब कार्य भी विषम हो जाता है।

विषमता की कुप्रवृत्ति के साथ जब एक व्यक्ति चलता है तो उसका कुप्रभाव उसके आसपास के वातावरण पर पड़े बिना नहीं रह सकता। यही वातावरण व्यापक होता है और परिवार, समाज एवं राष्ट्र से लेकर पूरे विश्व तक फैलता है। विषमता के थपेड़ों से गुणों की भूमिका समाप्त होती जाती है एवं चारों ओर दुर्गुणों को बढ़ावा मिलने लगता है। जब जीवन में दुर्गुणों का फैलाव हो जाता है तो वह मिथ्यात्व के वातचक्र में टकराता रहता है और पतन की राह बढ़ता जाता है।

इस कारण जहाँ-जहाँ से जितनी विषमता को काटी जायगी, वहाँ-वहाँ उतने अंशों में मानवीय सद्गुणों का विकास किया जा सकेगा। व्यक्ति अपने कर्म-बन्धनों से संघर्ष करेगा और अपनी विषमता को काटेगा, तब वह समाज को समता की दृष्टि दे सकेगा, क्योंकि वह स्वयं गुणों के स्थानों में ऊपर उठता हुआ समाज के लिये उन्नायक आदर्शों को प्रतिष्ठा करेगा।

परमात्म-स्वरूप की दार्शनिक भूमिका

इस दार्शनिक भूमिका को भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि गुणों के स्थानों में विकासशील आत्मा किस प्रकार अपने पूर्वार्जित कर्मों से संघर्ष करके उनका क्षय करती है तो नये कर्म-प्रवाह को भी कैसे साधना के बल पर अवरुद्ध बना देती है? उसके बाद ही वैसी आत्मा परमात्मा के स्वरूप को वरण करती है।

यह दृश्यमान संसार जीव तथा अजीव तत्त्वों पर आधारित है। जीव भी यहां स्वतन्त्र नहीं है—अजीव तत्त्व के साथ अपने कर्म-बन्धनों के कारण बंधा हुआ है। जीव और अजीव के सम्मिश्रण से समस्त जीवधारी दिखाई देते हैं तथा अजीव के बन्धन से ही जीवधारी अजीव तत्त्वों की ओर मोहाविष्ट भी होता है। यह मोह चाहे अपने या दूसरों के शरीर के प्रति हो अथवा धन, सम्पत्ति या अन्य पदार्थों के प्रति। यह मोहाविष्ट दशा जीवन में राग और द्वेष की प्रवृत्तियाँ जगाती है तो उन प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर जीवधारी विविध कर्म करते हुए उनके फलाफल से भी अपने को प्रतिबद्ध बनाते हैं।

यदि जीवात्मा शुभ कार्य करता है तो उसके पुण्य कर्मों का बंध होता है और उसका फल भी उसे शुभ मिलता है। अशुभ कार्य से पाप कर्मों का बन्ध होता है और उसका अशुभ फल भी भोगना पड़ता है। इस प्रकार पुण्य और पाप के तत्त्व जीवन में सुदशा एवं कुदशा की रचना करते हैं। यह जो कर्म-प्रवाह आकर आत्मा से संलग्न होता है, उसे आश्रव तत्त्व कहा गया है। आश्रव याने आते हुए कर्मों को रोका जाय—यह पहला काम। इस रोकने के पराक्रम को संवर तत्त्व कहा गया है। संवर तत्त्व की आराधना जब जीवन में की जाती है तो जीवन में उभार आता है क्योंकि प्रति क्षण जब समतामय दृष्टि एवं कृति से चला जाता है तभी संवर क्रियाशील होता है। फिर पूर्वार्जित कर्मों को नष्ट करने की दिशा में जो प्रयास किया जाता है उसे निर्जरा कहते है। संवर से बाहर से आते कर्मों को रोका जाय और निर्जरा से भीतर के कर्मों का क्षय किया जाय तो कर्म-मुक्ति की ओर स्वस्थ गति बनती है। सम्पूर्ण कर्म-मुक्ति को ही मोक्ष कहते हैं। कर्म बंधते हैं वह बंध तत्त्व और छूटते हैं वह मोक्ष तत्त्व।

इस प्रकार पूरे जीवन के निचोड़ रूप नव-तत्त्व—जीव अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष दिखाई देते हैं। पुण्य से अच्छे संयोग मिलते हैं और उससे विकास के अवसर भी, किन्तु

आत्मा का मूल स्वरूप ज्यों-ज्यों चमकता जायगा। जो शक्तियाँ विषय कषाय के वेग के नीचे दब गई थी, तब वे प्रकट होने लगेगी और आत्मा को अपनी निज की शक्ति का स्पष्ट बोध होने लगेगा। परम पद की ओर गतिशील ऐसी आत्मा ही अपनी सम्पूर्ण मलिनता मुक्ति के साथ परमात्मा के स्वरूप का वरण करती है।

"अप्पा सो परमप्पा"

इसीलिये कहा गया है कि यह जो आत्मा है, वही परमात्मा है। परमात्मा ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो प्रारम्भ से परमात्मा रही हो अथवा जिसने इस संसार की रचना की हो। नर से नारायण और आत्मा से परमात्मा—यही प्रकृति का प्राकृतिक विकास-क्रम होता है। नर से जुदा नारायण नहीं होता और आत्मा से अलग परमात्मा नहीं।। ऐसा कोई विकास नहीं होता जो सीधा आसमान से गिरता हो। प्रत्येक विकास धरती से शुरू होता है अविकास से आरम्भ होता है। ज्ञान इस विकास का मार्ग दिखाता है, दर्शन उसमें विश्वास पैदा करता है तथा कर्म उस मार्ग पर अडिग होकर चलता है, तभी सच्चे विकास की यात्रा प्रारम्भ होती है। प्रकाशपूर्ण विकास के अन्तिम छोर का नाम ही मुक्ति है।

"अप्पा सो परमप्पा" का सिद्धान्त भेद को भूलकर प्रत्येक ऊँची नीची आत्मा में आस्था स्थापित करता है तथा उसमें उच्चतम विकास पूरा कर लेने की अटूट प्रेरणा भरता है। कोई आत्माएँ विशिष्ट है और वे सदा से विशिष्ट ही थी—ऐसी मान्यता समता की भावना से दूर कहलायगी। समता का मार्ग ही यह है कि सारी आत्माओं में भव्यता होने पर समान विकास की शक्ति रही हुई है—यह दूसरी बात है कि उनमें से कई आत्माएँ उस शक्ति को प्रस्फुटित ही न करे अथवा सही विकास की दिशा में अग्रसर न हो। समता की दृष्टि में विकास

का भेद नहीं है, कर्म का भेद हो सकता है और जो जितना व जैसा कर्म करता है, वह वैसा व उतना विकास भी प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि समता मूल में कर्मण्यता को जगाने वाली होती है।

समता का सर्वोच्च रूप

समता कषाय को काटती है, सरलता लाती है। वह मनुष्य को विषय से हटाकर विराग की ओर मोड़ती है तो जीवन को भोग से मोड़ कर त्याग की दिशा में गतिशील बना देती है। इसी समता का स्वरूप जितना ऊपर उठता है, आत्मा का स्वरूप उतना ही समुज्ज्वल होता जाता है। समता की साधना यही कारण है कि समूचे जीवन की साधना होती है और जब समता अपने सर्वोच्च रूप तक उठ जाती है तो वह उस साधक आत्मा को भी परमात्मा के पद तक पहुंचा देती है।

विषमता के अंधेरे में जब यह आत्मा भटकती रहती है, तब इसकी ऐसी दीन हीन अवस्था दिखाई देती है जैसे वह तेजहीन और प्रभावहीन हो। किन्तु समता—सूर्य की पहली किरण ही उसमें ऐसी ताजगी भरती है कि उसका स्वरूप निखरने लगता है और ज्यों ज्यों समता सूर्य की लालिमा—उसका तेज आत्मा को उभारता रहता है, तब आत्मा के छिपे हुए अनन्त गुण—उसकी अनन्त शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं। तब उसकी वह प्राभाविकता अनुपम हो उठती है। उसकी वे शक्तियाँ न स्वयं उस आत्मा के विकास को प्रदर्शित करती हैं, बल्कि समाज को समुच्चय रूप से भी विकास की ओर प्रेरित बनाती हैं।

साध्य निरन्तर सम्मुख रहे

समता के सर्वोच्च रूप की उपलब्धि सरल नहीं है किन्तु यह प्रत्येक विकासोन्मुख जीवन के लिये साध्य अवश्य है। साध्य जब निरन्तर

व्यवहार के प्रबल थपेड़े

किसी वस्तुस्वरूप का ज्ञान होना सरल है किन्तु सम्यक् ज्ञान होना कठिन है और उससे भी अधिक कठिन होता है उस ज्ञान को अडिग रूप से व्यवहार में लाना। व्यवहार के मार्ग में ऐसे-ऐसे प्रबल थपेड़े आते हैं कि अच्छे-अच्छे लोग भी कई बार डिग जाते हैं। यह तो व्यक्तिगत जीवन की बात है किन्तु सामाजिक जीवन में तो ऐसे थपेड़े कभी-कभी इतने प्रबलतम होते हैं कि वो सारे सामाजिक जीवन को अस्त-व्यस्त बना देते हैं।

समता वृत्ति के इतिहास पर भी यदि एक दृष्टि डालें तो विदित होगा कि समतामय जीवन को व्यवहाररूप में अपनाने के बीच में व्यक्तिगत एवं समाजगत बाधाओं का बारबार भर्ही रहा है। समाज में जिस वर्ग के स्वार्थ किसी तरह निहित हो जाते हैं, वह वर्ग अपने स्वार्थों की रक्षा के अन्वेषण में सदैव विषमता का प्रसार करता रहा है और सचमुच में यही वर्ग समता का कट्टर शत्रु बन जाता है। जहाँ समता के व्यवहार-पक्ष पर विचार करना है वहाँ इस प्रसंग में गहराई से यह सोचना जरूरी है कि इसकी मूल कमजोरियाँ कौन-सी हैं और किन उपायों से समता के व्यवहार-पक्ष को व्यक्ति एवं समाज दोनों के आधारों पर सुदृढ़ बनाया जा सकता है?

स्वहित की आरम्भिक संज्ञा

बच्चा गर्भाशय से बाहर आते ही और कुछ समझे या न समझे—अपनी भूख को तो तुरन्त समझ लेता है और उससे पीड़ित होकर स्तनपान के लिये रोना एवं मुंह फाड़ना शुरू कर देता है। यह बात मानव शिशु के साथ ही नहीं है। छोटा से छोटा जन्तु भी अपनी रक्षा के भाव को समझता है। चींटियाँ चल रही हों और वहाँ हाथ

डाल दी जाती है तो वे अपने बचाव के लिये वहाँ से शीघ्र खिसक जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि छोटे-बड़े प्रत्येक जीवन में आरंभ से ही स्वहित की संज्ञा का उदय हो जाता है।

स्वहित की इस आरम्भिक संज्ञा का विकास तीन प्रकार से हो सकता है जिनका मूल आधार उस प्रकार के वातावरण पर निर्मित होगा—

(१) पहला प्रकार तो यह हो सकता है कि यह स्वहित की संज्ञा एकांगी एवं जटिल बन कर कुटिल स्वार्थ के रूप में बदल जाय कि मनुष्य को इसके आगे और कुछ सूझे ही नहीं। अपना स्वार्थ है तो सब है— दूसरों के हित की ओर दृष्टि तक न मुड़े। ऐसी प्रवृत्ति गहन विषमता को जन्म देती है और समता की जड़ों को मूल से ही काटती है।

(२) स्वहित-परहित के सन्तुलन का दूसरा प्रकार एक तरह से समन्वय का प्रकार हो सकता है कि अपना हित भी आदमी देखे किन्तु उसी लगन से दूसरों के हित के लिये भी वह तत्पर रहे। अपने और दूसरों के हितों को इतना सन्तुलित बना दे कि कहीं उनके बीच टकराव का मौका न आये। साधारण रूप से समाज में समग्र दृष्टि से इस प्रकार की क्रियान्विति की आशा की जा सकती है। यह समता की दिशा है।

(३) तीसरा त्यागियों और महापुरुषों का प्रकार हो सकता है कि परहित के लिये स्वहित का बलिदान कर देना। ऐसे बलिदानी सर्वस्व-त्याग की ऊँची सीमा तक भी पहुंच जाते हैं। सच पूछें तो विश्व को समता का दिशादान ऐसे महापुरुष ही किया करते हैं, क्योंकि उनके त्यागमय चरित्र से ही समता की सर्वोत्कृष्ट स्थिति प्रकाशमय बनती है।

वातावरण के तदनुकूल निर्माण पर यह निर्भर करता है कि यह आरंभिक संज्ञा रुद्ध एवं भ्रष्ट हो जाय अथवा जागृति तथा उन्नति की ओर मुड़ जाय?

स्वार्थ के घातक आक्रमणों से बचाने के लिये निम्न दो उपाय मुख्यतः हो सकते है—

(१) पहला सुनियंत्रण तो स्वयं आत्मा का अपने ऊपर हो और यही वास्तविक नियंत्रण भी है। अपने ही ज्ञान और विवेक से जो पतन के मार्ग को पहिचान जाता है, वह अपने जीवन में व्यवहारिक प्रयोग के नाते अपने को उन विकारों से बचाना चाहता है जो पतनकारक होते हैं। आत्म-नियमंण की श्रेष्ठता को चुनौती नहीं दी जा सकती है।

(२) दूसरा नियंत्रण होता है सामाजिक नियंत्रण। जबतक आत्मा के अनुभावों में विवेक की पर्याप्त मात्रा नहीं आजाती अथवा विकारों की तरफ बढ़ने की उसमें उद्दाम लालसा होती हैं, तबतक व्यक्ति में स्वार्थ को सामाजिक उपायों से ही नियंत्रित किया जा सकता है। आत्म नियंत्रण की स्थिति में भी जब कमजोरी के क्षण आते है और फिसलने का खतरा पैदा हो जाता है, तब भी सामाजिक नियंत्रण ही मनुष्य के स्वार्थ को आक्रामक बनने से रोक सकता है।

नियंत्रण की दुधारी इन दोनों प्रकारों को कहा गया है कि हर समय एक न एक धार स्वार्थ के सिर पर खड़ी रहे ताकि वह मोहल्ल से बाहर निकलने की धृष्टता न कर सके। मन की दुर्बलता तक समाज का नियंत्रण और उसके कम होने के साथ-साथ स्वयं के नियंत्रण की मात्रा बढ़ती जाय। इस व्यवस्था से स्वार्थ नियंत्रित रहेगा और मनुष्य के मन में समता की वृत्ति घनिष्ठता से जमती जायगी।

सामाजिक नियंत्रण की प्राथमिकता

सामान्य रूप से समाज में बहुसंख्यक ऐसे लोग होते हैं जिनका विवेक बौद्धिक सीमा से नीचा होता है और जो अपने ही अनुशासन को समझने, कायम करने तथा उसका पालन करने की क्षमता से हीन होते हैं। उन्हें नियंत्रण की परिधि में लाने के लिये तथा आत्म-विकास की ओर अग्रसर बनाने के लिये आवश्यक हो जाता है कि उस समाज में राजनीति, अर्थनीति, परम्पराओं एवं प्रक्रियाओं का गठन इस रूप में किया जाय कि वह

गठन नियंत्रक भी हो और प्रेरक भी। सामाजिक नियंत्रण की ऐसी व्यवस्था में साधारण मनुष्य स्वार्थी वैत्य के शिकंजे में न फंस सके—ऐसा प्रयास होना चाहिये।

मानव समाज के वैज्ञानिक विकास की ओर एक दृष्टि डालें तो स्पष्ट होगा कि इस स्वार्थ पर सामाजिक नियंत्रण करने की यत्किंचित् व्यवस्था के कारण ही वह पशुता के घेरों को तोड़ कर मानवता की ओर आगे बढ़ा है। जिस वर्तमान संस्कृति एवं सभ्यता का पूर्व युग कहा जाता है, माना जाता है कि तब मनुष्य पशु की तरह घूमता था और सिर्फ स्वहित को ही समझता था। ज्यों-ज्यों वह अपने अन्य साथियों के सम्पर्क में आया, उसने ज्ञान, कला, विज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्रों में अपने कर्म एवं चिन्तन से संस्कृति एवं सभ्यता का विकास किया है। तो जिस सामाजिकता ने उसे विकास के इस स्तर तक पहुंचाया है, उसी सामाजिकता को यदि समतामय जीवन को नैतिकता से नियंत्रित बनाई जाय तो निश्चय ही आज के विषम जीवन को नये रूप में ढाला जा सकेगा।

सामाजिक नियंत्रण को प्राथमिकता देने का यही रहस्य है कि अविकास की अवस्था में यही नियंत्रण अधिक कारगर होता है तथा नियंत्रित को आत्म-नियंत्रण की ओर मोड़ता है। यह सही है कि जो एक बार आत्म-नियंत्रण के महत्त्व को समझ जाता है, वह फिर आत्म-विकास के लम्बे मार्ग को भी ढूंढ़ लेता है।

सामाजिक नियंत्रण का साध्य क्या हो ?

समाज में एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ, एक नागरिक संगठन के दूसरे नागरिक संगठन के साथ अथवा नागरिक के राज्य के साथ या राज्यके अन्य राज्यों, राष्ट्रों व अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में कैसे सम्बन्ध हो—इसके अनेक स्वरूप एवं प्रकार हो सकते हैं। सामाजिक जीवन को आज की प्रणालियों में पूंजीवाद भी है तो समाजवाद या साम्यवाद भी है, किन्तु किसी भी एक प्रणाली के प्रति दुराग्रह या आग्रह भी बन जाय

तो वह साध्य की स्थिति को अस्पष्ट बना देता है। अतः जब हम व्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण की कल्पना करें तो उसके साध्य की स्पष्ट कल्पना हमारे सामने होनी चाहिये।

स्पष्ट है कि मानव समाज का अन्तिम उद्देश्य यही हो सकता है कि मानव स्वार्थ के पशुत्व को छोड़कर मानवता का वरण करे और उससे भी आगे त्याग एवं बलिदान के पथ पर बढ़कर समता के चरम आदर्श तक पहुंचे एवं देवत्व को धारण करे। संक्षेप में यह कह दें कि वह स्वहित का त्याग करके भी परहित के लिये अधिक जागरूक बने। इसका अर्थ होगा कि उसे स्वार्थ से भी परार्थ अधिक भायगा। स्वार्थ छूटेगा तो विषमता कटेगी। जितना परार्थ का भाव दृढ़ बनेगा, उतने ही अंशों में समता के समरस में आत्मा आनन्दमग्न बनती जायगी।

साध्य स्पष्ट रहे तो साधनों में अधिक विवाद बढ़ने की गुंजाइश कम रहेगी। ऐसी परिस्थिति में साधनों के प्रति रूढ़ भाव धारण करने की वृत्ति भी नहीं बनती है। जब यह लगता है कि अपनाया हुआ साधन साध्य तक पहुंचाने में अक्षम बनता जा रहा है तो तुरन्त साधन में यथोचित परिवर्तन कर लेने में कोई संकोच नहीं होगा। तब साध्य की तरफ ही सजग दृष्टि बनी रहेगी।

आत्म-नियंत्रण की दिशा में

राजनीति, अर्थ एवं अन्य पारस्परिक सम्बन्धों को जब सामाजिक नियंत्रण में व्यवस्थित रूप से ले लेंगे तो इन क्षेत्रों में व्यक्तिगत उद्दंडता को रोकी जा सकेगी। अविकास एवं अज्ञान के कुप्रभाव से भी व्यक्ति ऐसी अवस्था में पशुता की ओर नहीं बढ़ सकेगा। इस प्रकार एक बार मनुष्य को भेड़िया बनाने वाले वातावरण को बदल दिया गया तो यह संभव हो सकेगा कि समूचे समाज को सामान्य नैतिकता के धरातल पर खड़ा किया जासके याने कि मनुष्य की कम से कम ऐसी वृत्ति तो पूरी तरह बन ही जाय कि वह स्व-हित एवं परहित को संघर्ष

में न डाले। वह दोनों के बीच समाज के सभी क्षेत्रों में सन्तुलन स्थापित कर सके।

जिस दिन समाज इस स्तर पर आरूढ़ हो जायगा तो उस दिन आत्म-नियंत्रण की दिशा भी सर्वाधिक सुस्पष्ट बन जायगी, क्योंकि व्यक्ति को उस समय यह ध्यान होगा कि उसकी कमजोरी के क्षणों में भी समाज उसे उसकी उच्चता से नीचे गिरने नहीं देगा। यह मानस उसे आत्म-नियंत्रण की दिशा में अग्रगामी बनाता रहेगा। किसी के लिये जितने अधिक बाहरी नियंत्रण की आवश्यकता होती है—यह समझा जाय कि वह अभी उतना ही अधिक अविकास की स्थिति में पड़ा हुआ है। जो जितना अधिक आत्म-नियंत्रण की दिशा में आगे बढ़ता है—यह मापदंड है कि वह उतना ही अधिक विवेक एवं विकास की सुदृढ़ता को प्राप्त करता है। जो आत्म-नियंत्रण करना सीख जाता है, वही तो संयमी कहलाता है और जो संयमी है, वह समता को अपने जीवन में ऊँचा से ऊँचा स्थान अवश्य देगा।

आत्म-नियंत्रण का व्यवहारिक पहलू

आत्म-नियंत्रण का व्यवहारिक अर्थ यह है कि यह धर्म की ओर गतिशील होता है, क्योंकि दशवैकालिक सूत्र में धर्म का स्वरूप बताया है—

"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।"

मंगलमय धर्म वही है जो अहिंसा, संयम एवं तप-रूप है। अहिंसा, संयम एवं तप की आराधना वही कर सकता है जो निज पर नियंत्रण रखना सीख जाता है। अहिंसा परहित पर आघात नहीं होने देगी, संयम स्वार्थ को कभी उभर नहीं उठने देगा तो तप स्वार्थ के सूक्ष्म अवशेषों को भी नष्ट कर देगा।

यह जाना जा चुका है कि विषय और कषाय का मूलतः फैलाव विषमता के कारण होता है। क्योंकि जब कोई दूसरा अपने स्वार्थ से टकराता है तो क्रोध आता है, उस टकराव को मिटाने के लिये माया का

सहारा लिया जाता है, जब अपना स्वार्थ बीत जाता है तो मान बढ़ जाता है और स्वार्थी लोभ को तो छोड़ता ही कहाँ है ? कषायें विषय को बढ़ाती हैं और जीवन के हर पल और पहलू में राग व द्वेष के कुत्सित भाव को भरती हैं।

अतः अपनेआपको नियंत्रित करने का अभिप्राय ही यह है कि अपने विकारों को—विषय एवं कषाय को नियंत्रित करो—यही आत्म नियंत्रण का व्यवहारिक पहलू है। सम्यक्त्व धारण करने पर व्रती बना जाय और उसके बाद श्रावकत्व से साधुत्व की ऊँची सरणियों में चढ़ते हुए मोक्ष की मंजिल तक पहुँचा जाय—गुणों के इन चौदह स्थानों का वर्णन पहले दिया जा चुका है। आत्म-नियंत्रण का तात्पर्य्य गुणवृद्धि और गुणवृद्धि का तात्पर्य्य समतामय जीवन होना ही चाहिये। समता जब जीवन में उतरती है तो वह जितने विकारों का शमन भी करती है तो सम्पूर्ण जीवनधारियों के बीच समत्व की भावना की स्थिति का भी निर्माण करती है।

व्यवहार में थपेड़े आवश्यक हैं

थपेड़ों का साधारण अर्थ यहाँ कठिनाइयों से लिया जा रहा है और समता साधना के बीच जो कठिनाइयाँ आती है, ये व्यवहारिक कठिनाइयाँ मनुष्य को ऊपर भी चढ़ाती हैं तथा नीचे भी गिरा देती हैं। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की तुलना में सम्यक् चरित्र स्वयं ही अधिक कठिन होता है और जब आचरण में विविध प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं एवं उस आचरण की स्वस्थ प्रक्रिया को भ्रष्ट करना चाहती हैं तब जो अडिग रहता है, वह जीवन की ऊँचाइयों में विहार करता जाता है किन्तु जो उनके सामने झुक जाता है—हार जाता है, वह अपनी सम्पूर्ण साधना को भी मिट्टी में मिला देता है।

आग में न तपाया जाय तो सोने की पक्की परीक्षा न हो सकेगी, उसी प्रकार एक चरित्र-साधक को यदि कठिन कठिनाइयों का सामना

न करना पड़े तो उसकी साधना भी कसौटी पर खरी नहीं उतरेगी। अतः सुगठित विकास के लिये व्यवहार में थपेड़े आवश्यक हैं।

समता के व्यवहार पर भी यही सिद्धान्त लागू होता है। समता की दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि समझने एवं मानने के बाद जब उस पर क्रियान्वयन किया जायगा तब देश, काल के अनुसार अवश्य ही कई तरह की व्यवहारिक कठिनाइयाँ सामने आवेंगी और उनका यदि सही मुकाबिला हुआ तो विषमता की स्थितियाँ नष्ट होती हुई चली जायगी। ये थपेड़े ऐसी अवस्था में मनुष्य के मुख को समता की ओर सोत्साह मोड़ देंगे।

व्यवहार के थपेड़ों में समता की कहानी

यह एक सत्य है कि मानव-मन के मूल में समता की प्रबल चाह रमी हुई है। वह भूलता है, गिरता है किन्तु जब भी थोड़ी बहुत चेतना पाता है तो हर तरह से समता लाने का प्रयत्न करने लगता है। इसी चाह का परिणाम है कि मनुष्य ने समता के क्षेत्र में काफी सफलताएँ भी प्राप्त की हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से मानव जाति ने ऐसी-ऐसी विभूतियों को जन्म दिया है, जिन्होंने समता के प्रकाशस्तंभ बन कर नवीन आदर्शों एवं मूल्यों की स्थापना की। महापुरुषों एवं मुनियों के त्यागमय जीवन चरित्र आप पढ़ते और सुनते हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि समता की रक्षा के लिये उन्होंने किसी भी बलिदान को कभी बड़ा नहीं समझा। सर्वस्व-त्याग उनका आदर्श बिन्दु रहा।

सांसारिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भी मनुष्य ने सदा समता के लिये संघर्ष किया है। राजतंत्र के कुटिल अत्याचारों से निकल कर प्रत्येक के लिये समान मताधिकार को जो उसने राजनीति के क्षेत्र में

उपलब्धि की है, वह कम नहीं है यह दूसरी बात है कि अन्य क्षेत्रों में समता कायम न कर सकने के कारण समान मताधिकार आवश्यक रूप से प्रभावशाली नहीं बन सका है। अब आर्थिक क्षेत्र में भी समता के प्रयास हो रहे हैं—सम्पन्नों एवं अभावग्रस्तों के बीच की खाई को जितनी तेजी से पाटी जा सकेगी दोनों के बीच समानता भी उतनी ही हार्दिकता से बढ़ेगी। समाज के अन्य क्षेत्रों में भी समता पाने की भूख तेजी से बढ़ती जा रही है और हर आदमी के मन में स्वाभिमान जाग रहा है जो उसे समता कायम करने की दिशा में सशक्त भी बना रहा है।

फिर भी समता की दिशा में करने को बहुत है। स्वार्थ के दुर्दान्त शत्रु को वश में करने के लिये उचित सामाजिक नियंत्रण की स्थायी व्यवस्था के लिये भी बहुत कुछ संघर्ष करना शेष है। इसके बाद भी यह नियंत्रण स्वस्थक्रम से चलता हुआ आत्म-नियंत्रण को अनुप्रेरित करे—इस लक्ष्य के लिये आवश्यक संघर्ष करना होगा। समता का व्यवहार-पक्ष इन्हीं थपेड़ों के बीच अमित धैर्य एवं साहस के साथ जम सकेगा, बशर्ते कि इन थपेड़ों में समता का अस्तित्व ही न उखड़ जाय। आज यही सतर्कता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है।

क्रान्ति की आवाज उठाइये !

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य अपने जीवन में गिरता, बदलता और उठता रहेगा, किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी भी समाप्त नहीं हो सकेगी। मनुष्यता का अस्तित्व सदा अक्षुण्ण बना रहेगा। उसका अस्तित्व मात्र ही न बना रहे, बल्कि समता के समरस स्तरों में इस भव मनुष्यता का आदर्श स्वरूप प्रकाशित हो—इसीलिये आज क्रान्ति की आवाज उठाने की नितान्त आवश्यकता है। क्रान्ति आज के विषमता-जन्य मूल्यों के त्वरित परिवर्तन के प्रति—ताकि समतामय समाज के नये रचनात्मक मूल्यों की स्थापना की जा सके।

क्रान्ति के प्रति कई लोगों की भ्रान्त धारणा भी होती है। कुछ लोग क्रान्ति का अर्थ रक्तपात मात्र मानते हैं। क्रान्ति का सीधा अर्थ कम ही लोग समझते हैं। प्रारंभ होने वाला प्रत्येक तत्त्व या सिद्धान्त अपने समग्र शुद्ध स्वरूप में ही आरंभ होता है किन्तु कालक्रम में उसके प्रति शैथिल्य का भाव आता है तब शिथिलता से उसके आचरण में विकारों का प्रवेश भी होता है। इस विकृत-स्थिति के प्रति जो विद्रोह किया जाता है तथा फिर से उस विकार को निकाल कर शुद्ध स्थिति लाने की जो चेष्टा की जाती है—उसे ही क्रान्ति कह लीजिये। विकृत मूल्यों के स्थान पर फिर से शुद्ध मूल्यों की स्थापना हेतु जो सामूहिक संयत प्रयास किया जाता है—उसी का नामकरण क्रान्ति है।

आज जब क्रान्ति की आवाज उठाने की बात कही जाती है तो उसका सरल अभिप्राय यही लिया जाना चाहिये कि विषमता से विकृत जो जीवन प्रणाली चल रही है, उसे मिटाकर उसके स्थान पर ऐसी समतामय जीवन प्रणाली प्रारंभ की जाय जिससे समाज में सहानुभूति, सहयोग एवं सरलता की गंगा बह चले।

युवा वर्ग पर विशेष दायित्व

विकास के लिये परिवर्तन सामान्यरूप से सभी का दायित्व है किन्तु जहाँ परिवर्तन का नाम आता है, एक उत्साहभरी उमंग एवं कठिन कर्मठता का स्मरण हो आता है और यह यौवन का विशेष आभूषण होता है। सच्चा यौवन कर्मक्षेत्र में कूद पड़ने से एक क्षण के लिये भी नहीं हिचकिचाता और बड़े से बड़े आत्म-समर्पण के लिये वह छटपटाता रहता है। जलने का नाम जवानी है और यह ऐसी आग है जो खुद जलती है, मगर दूसरों को रोशनी और सहायता पहुंचाती है। अतः जब यह कहें कि ऐसी क्रान्ति लाने का युवा वर्ग पर विशेष दायित्व है तो इस कथन का भी इस दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इस जागरण

:९:

समतामय आचरण के इक्कीस सूत्र एवं तीन चरण

एक समता-साधक व्यवहार के धरातल पर खड़ा होकर जब आचरण के विशद रूपों पर दृष्टि डालता है तो एक बार उसका चिन्ताग्रस्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं होगा कि वह समता के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये किन सूत्रों को पकड़े और किन चरणों से गति करे? फैले हुए विशाल भू-मंडल को जान लें, देख लें, किन्तु जब एक बिन्दु से उस पर चल कर एक निश्चित गन्तव्य तक पहुँचने तक इरादा करें तो यह जरूरी होगा कि एक निश्चित पथ का भी चयन किया जाय या कि अपनी एक पगडंडी की ही रचना की जाय।

सही मार्ग को ढूंढ कर चलना अथवा अपने गम्भीर ज्ञान एवं कठोर पुरुषार्थ से नई पगडंडी की रचना करना निश्चय ही जीवन में एक मनोरम कार्य होता है। आचरण के बिखरे हुए सूत्रों को समेटना एवं उनको मर्यादा में गति करना—ये ही तो चरित्र की विशेषताएं होती हैं। आचरण के सूत्रों के निर्धारण में वर्तमान परिस्थितियों का पग-पग पर ध्यान रखना होगा कि वह ऐसा सशक्त हो जो व्यक्ति के निजी एवं सामूहिक दोनों प्रकार के जीवनों को वांछित दिशा में गतिशील बना सके।

विषमता से समता की ओर

यह गति स्पष्ट रूप से विषमता से समता की ओर होनी चाहिये। ज्ञान के आलोक में जिन विषमताजन्य समस्याओं का अध्ययन किया है, उनका समाधान समतामय आचरण से निकालना होता है। व्यक्ति मन, वाणी एवं कर्म के किसी भी अंश में विषमता का अंधेरा न फैलने दे तो सामाजिक जीवन में भी विषमता अपना प्रभाव नहीं कर सकेगी। यह तभी संभव है जब अहिंसा एवं अनेकान्त के सिद्धान्तों पर सूक्ष्म दृष्टि से आचरण किया जाय।

समता की भावना को खंडित करने वाले मुख्यतः दो प्रकार के संघर्ष होते हैं। पहला स्वार्थों का संघर्ष तो दूसरा विचारों का संघर्ष। मन, वचन या काया से किसी अन्य प्राणी को बल्कि उसके किसी भी प्राण को किसी प्रकार कोई क्लेश नहीं पहुंचाना बल्कि शांति देना एवं रक्षा करना—यह अहिंसा का मूल है। एक अहिंसक अपने स्वार्थ को तिलांजलि दे देगा, किन्तु किसी को तनिक भी क्लेश पहुंचाना स्वीकार नहीं करेगा। स्वार्थों के टकराव का निरोधक अस्त्र अहिंसा है तो अनेकान्त विचारों के टकराव को रोकता है। यह सिद्धान्त प्रेरणा देता है कि प्रत्येक के विचार में निहित सत्यांश को ग्रहण करो एवं अंश-अंश मिलाकर पूर्ण सत्य के साक्षात्कार की उच्चतम स्थिति तक पहुंचो।

समता के इन दोनों मूलाधारों को यदि जीवन में उतारा जाय तो विषमता तीव्र गति से मिटनी शुरू हो जायगी।

परिवर्तन का रहस्य आचरण में

विषमता से समता में परिवर्तन अपनी-अपनी साधना शक्ति के अनुसार एक छोटी या लम्बी प्रक्रिया हो सकती है किन्तु इस परिवर्तन का रहस्य अवश्य ही आचरण की गरिमा में समाया हुआ रहता है।

कोई भी परिवर्तन बिना क्रियाशीलता के नहीं आता। बिच्छू काटे की दवा कोई जानता है किन्तु बिच्छु के काटने पर अगर वह उस दवा का प्रयोग करने की बजाय उस जानकारी पर ही घमंड करता रहे तो क्या बिच्छु का जहर उतर जायगा ? यही विषमता का हाल होता है।

विषमता मिटाने का ज्ञान कर लिया, किन्तु उस ज्ञान का आचरण में डाले बगैर विषमता मिटेगी कैसे ? और इस ज्ञान का नकारात्मक और स्वीकारात्मक दोनों रूपों में प्रयोग होना चाहिये। विषमता मिटाने के नकारात्मक प्रयोग के साथ साथ समता धारण करने का स्वीकारात्मक प्रयोग भी जब कार्यरत होगा तो परिवर्तन का पहिया तेजी से घूमने लगेगा।

समतामय आचरण के २१ सूत्र

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू एवं रूप हो सकते हैं किन्तु सारे तत्त्वों एवं परिस्थितियों को समन्वित करके उसके निचोड़ में इन २१ सूत्रों की रचना इस उद्देश्य से की गई है कि आचरण के पथ पर जिन्हें पकड़ कर समता की गहन साधना आरंभ की जा सकती है। इन २१ सूत्रों में मनुष्य के अन्तर एवं बाहर के भावों व कार्यों का विश्व तक के व्यापक क्षेत्र में शांति एव समतामय तालमेल बिठाने का यत्न किया गया है। यह समझना चाहिये कि यदि समुचय रूप से एक समता साधक इन २१ सूत्रों को आधार मान कर सक्रिय बनता है तो यह साधना के उच्चतर स्तरों पर सफलता प्राप्त कर सकता है। ये २१ सूत्र इस प्रकार हैं :—

१. हिंसा का परित्याग
२. मिथ्याचरण छोड़ें
३. चोरी और बेयामत से दूर
४. ब्रह्मचर्य का मार्ग
५. तृष्णा पर अंकुश
६. चरित्र में दाग न लगे
७. अधिकारों का सदुपयोग
८. अनासक्त-भाव
९. सत्ता और सम्पत्ति साध्य नहीं
१०. सादगी और सरलता

११. स्वाध्याय और चिन्तन	१६. सुधार का अहिंसक प्रयोग
१२. कुरीतियों का त्याग	१७. गुण-कर्म से वर्गीकरण
१३. व्यापार सीधा और सच्चा	१८. भावात्मक एकता
१४. धनधान्य का सम-वितरण	१९. जनतंत्र वास्तविक बने
१५. नैतिकता से आध्यात्मिकता	२०. ग्राम से विश्व धर्म

२१. समता पर आधारित समता

अब यहाँ इन २१ सूत्रों को सरल भाषा में संक्षिप्त टिप्पणी के साथ अंकित किया जा रहा है जिन्हें पाठकों को अपने चिन्तन का विषय बनाना चाहिये।

सूत्र १ला : हिंसा का परित्याग

अत्यावश्यक हिंसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था में भी भावना तो व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र आदि की रक्षा की रखना तथा विवशता से होने वाली हिंसा में लाचारी अनुभव करना, न कि प्रसन्नता।

समता के साधक को हिंसा के स्थूलरूप का तो परित्याग कर ही लेना चाहिये—इसका अभिप्राय यह होगा कि वह स्वहित के लिये तो परहित पर कोई आघात नहीं पहुँचायगा। सन्तुलन के बिन्दु से जब वह साधना आरम्भ करेगा तो स्वार्थों का संघर्ष अवश्य ही कम होगा। स्वहित की रक्षा में यदि उसे आवश्यक हिंसा करनी भी पड़े तब भी वह उस हिंसा का आचरण खेदपूर्वक ही माने तथा स्वहितों को परहित के कारण परित्याग करने की शुभ भावना का निर्माण करे ताकि एक दिन वह पूर्ण अहिंसक व्रत अंगीकार कर सके।

सूत्र २रा : मिथ्याचरण छोड़ें

झूठी साक्षी नहीं देना तथा स्त्री, पुरुष, पशु आदि के लिये भी न मिथ्या भाषण करना तथा नहीं किसी रूप में मिथ्याचरण करना।

विषमता के फैलाव में झूठ का बहुत बड़ा योगदान होता है। अकेला झूठ ही सम तत्त्वों को विषमतम बना देता है। समता की लाठी सत्य होती है तो झूठ अपने हर पहलू में विषमता की तीव्रता को बढ़ाता है। मिथ्याचरण के परित्याग का अर्थ होता है कि विषमता के विविध रूपों से संघर्ष किया जाय तथा समता-भावना के विस्तार में सत्याचरण से सहयोग दिया जाय।

सूत्र ३रा : चोरी और खयानत से दूर

ताला तोड़कर, चाबी लगा कर या सेंध लगाकर वस्तु नहीं चुराना। दूसरों की अमानत में खयानत नहीं करना तथा चोरी के सभी उपायों से दूर रहना।

वर्तमान युग में अचौर्य व्रत को गंभीरता से लिया जाना चाहिये। समता साधक चोरी के सभी प्रकार के स्थूल उपायों से दूर रहे किन्तु उसके साथ ही अमानत में खयानत की विशेषता को भी समझे। इसका सम्बन्ध श्रम-शोषण से है। एक मजदूर एक मालिक की मिल में मजदूरी करता है तो वहाँ वह जो अपना श्रम नियोजित करता है—एक तरह से वह श्रम याने उसका उत्पादक मूल्य उस मजदूर का मालिक को अमानत रूप में मिलता है। अब यदि मालिक मजदूर के १०) रु० प्रतिदिन के मूल्य की एवज में उसे ५) रु० की ही दानगी देता है तो यह इस नजरिये से अमानत में खयानत ही कहलायगा। आज की जटिल आर्थिक व्यवस्था में समता साधक को चोरी के कई टेढ़े-मेढ़े तरीकों से बचना होगा।

सूत्र ४था : ब्रह्मचर्य का मार्ग

परस्त्री का त्याग करना एवं स्वपत्नी के साथ भी अधिकाधिक ब्रह्मचर्य व्रत का अनुपालन करना तथा वासनाओं पर न सिर्फ कायिक बल्कि वाचिक व मानसिक विजय की ओर आगे बढ़ना।

दुराचरण से दूर हटकर समता-साधक को अपने सदाचरण से आस-पास के वातावरण में चारित्र्य शुद्धता की एक नई हवा बनानी चाहिये। ब्रह्मचर्य संयम को बल देगा तथा संयम से समता का मार्ग प्रशस्त होगा।

सूत्र ५वाँ: तृष्णा पर अंकुश

स्वयं की सामर्थ्य के अतिरिक्त सभी दिशाओं में लेनदेन आदि समस्त व्यापारों का त्याग करना।

मनुष्य के स्वार्थ और तृष्णा पर अंकुश लगाना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अपनी आवश्यकता के अनुसार तथा अपने श्रम से व्यक्ति यदि अर्जन करता है तो वह अनावश्यक संग्रह के चक्कर में नहीं पड़ता है। उसका स्वार्थ जब इतनी सीमा से बाहर नहीं निकलता तो वह घातक भी नहीं बनता है। अतः समता-साधक अपने व्यापार या धंधे का फैलाव इतने ही क्षेत्रों में करें जो उसके सामर्थ्य में हो तथा जितने की उसे मूल में आवश्यकता हो।

सूत्र ६ठा : चरित्र में दाग न लगे

स्वयं के, परिवार के, समाज के, एवं राष्ट्र आदि के चरित्र में दाग लगे, वैसा कोई भी कार्य नहीं करना।

व्यक्ति यदि स्वार्थ को सीमा में रखकर चल सके तो वह ऐसे कार्यों की उलझन में नहीं फंसेगा जो स्वयं, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र के चारित्र्य पर किसी भी रूप में कलंक कालिमा पोते। एक समता साधक को अपने आचरण की सीमाएँ इस तरह रखनी होंगी कि जहाँ समस्त प्राणियों के हित की बात हो, वहाँ निम्न वर्ग के हितों से ऊपर उठकर व्यापक हित में प्रयास रत हो। परिवार हित के लिये वह स्वयं के हित का बलिदान करे तो इसी तरह समाज के लिये परिवार के, राष्ट्र

के लिये समाज के तो मानव जाति के हितों के लिये राष्ट्रीय हितों का बलिदान करने को भी वह तैयार रहे। अपने-अपने स्तर पर चरित्र-रक्षा का यही क्रम होना चाहिये। किसी भी स्तर पर चरित्र सम्बन्धी कलंक लगाने वाली हरकतों से तो समता साधक को बचना ही होगा।

सूत्र ७वाँ : अधिकारों का सदुपयोग

प्राप्त-अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना तथा उनका व्यापक जन-कल्याणार्थ सर्वत्र सदुपयोग करना।

समाज या राष्ट्र में अपनी योग्यता, प्रतिष्ठा आदि के बल पर कई व्यक्ति छोटे या बड़े पदों पर पहुंचते हैं जहाँ उनके हाथ में तदनुसार अधिकारों का सर्वस्व आता है। समता-साधक का कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसी स्थिति में उन प्राप्त अधिकारों का कतई दुरुपयोग न करे। यहाँ दुरुपयोग या सदुपयोग का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। जो प्राप्त सार्वजनिक अधिकारों का अपने या अपने लोगों के स्वार्थों की पूर्ति हेतु उपयोग करता है—वह उनका दुरुपयोग कहलायगा। उन्हीं अधिकारों के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका उपयोग सर्वत्र व्यापक जन-कल्याण में किया जाय।

सूत्र ८वाँ : अनासक्त-भाव

सत्ता या अधिकार प्राप्ति के समय उनके अन्धाधुन्ध प्रयोग की अपेक्षा तज्जन्य कर्त्तव्य-पालन के प्रति विशेष जागरूक रहना तथा प्राप्त सत्ता में आसक्त-भाव नहीं आने देना।

समता साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह सम्पत्ति की ही तरह सत्ता में भी मूर्छा भाव याने ममत्व दृष्टि पैदा न करे। जहाँ यह ममत्व हुआ, वहाँ सत्ता का दुरुपयोग अनिवार्य है। किन्तु यदि अनासक्त

भाव से सत्ता का प्रयोग किया जाय तो मनुष्य को पागल बना देनेवाली सत्ता को भी समाज-राष्ट्र की सच्ची सेवा का शुद्ध साधन बनाया जा सकेगा।

सूत्र ९वाँ : सत्ता और सम्पत्ति साध्य नहीं

सत्ता और सम्पत्ति को मानव-सेवा का साधन मानना, न कि व्यक्ति जीवन का साध्य।

सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियाँ समता-साधक के हाथों में मानव-सेवा की साधनरूप बनी रहनी चाहिये किन्तु जहाँ व्यक्ति ने सत्ता और सम्पत्ति को अपने जीवन के साध्य रूप में धार लिया और तदनुसार आचरण आरम्भ कर दिया तो समझ लीजिये कि उसने अपने आपको विषमता के नरककुण्ड में पटक दिया है। सत्ता और सम्पत्ति यदि व्यक्ति के जीवन के साध्य नहीं रहे तथा सामाजिक सेवा के साधन रूप बन जाएं तो समाज में इनके स्वस्थ वितरण की समस्या का भी सरल समाधान निकल जायगा। समता साधक को ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की दिशा में आगे बढ़ना होगा।

सूत्र १०वाँ : सादगी और सरलता

सादगी, सरलता एवं विनम्रता में विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यों की रचना में सक्रिय बने रहना।

क्रान्ति न हठ है, न दुराग्रह है और न रक्तपात है। नये सामाजिक मूल्यों की रचना का नाम क्रान्ति है जिसका क्रम सदा चलता रहना चाहिये ताकि मूल्यों में विकारों का प्रवेश ही न हो सके। किन्तु समता-साधक जब क्रान्ति का बीड़ा उठाता है तो उसमें सादगी, सरलता एवं विनम्रता की मात्रा भी बढ़ जाती है। जितनी अधिक साधना,

के लिये समाज के तो मानव जाति के हितों के लिये राष्ट्रीय हितों का बलिदान करने को भी वह तैयार रहे। अपने-अपने स्तर पर चरित्र-रक्षा का यही क्रम होना चाहिये। किसी भी स्तर पर चरित्र सम्बन्धी कलंक लगाने वाली हरकतों से तो समता साधक को बचना ही होगा।

सूत्र ७वाँ : अधिकारों का सदुपयोग

प्राप्त-अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना तथा उनका व्यापक जन-कल्याणार्थ सर्वत्र सदुपयोग करना।

समाज या राष्ट्र में अपनी योग्यता, प्रतिष्ठा आदि के बल पर कई व्यक्ति छोटे या बड़े पदों पर पहुंचते हैं जहाँ उनके हाथ में तदनुसार अधिकारों का वर्चस्व आता है। समता-साधक का कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसी स्थिति में उन प्राप्त अधिकारों का कतई दुरुपयोग न करे। यहाँ दुरुपयोग या सदुपयोग का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। जो प्राप्त सार्वजनिक अधिकारों का अपने या अपने लोगों के स्वार्थों की पूर्ति हेतु उपयोग करता है—वह उनका दुरुपयोग कहलायगा। उन्हीं अधिकारों के सदुपयोग का अर्थ होगा कि उनका उपयोग सर्वत्र व्यापक जन-कल्याण में किया जाय।

सूत्र ८वाँ : अनासक्त-भाव

सत्ता या अधिकार प्राप्ति के समय उनके अन्धाधुन्ध प्रयोग की अपेक्षा तज्जन्य कर्त्तव्य-पालन के प्रति विशेष जागरूक रहना तथा प्राप्त सत्ता में आसक्त-भाव नहीं आने देना।

समता साधक के लिये यह आवश्यक है कि वह सम्पत्ति की ही तरह सत्ता में भी मूर्छा भाव याने ममत्व दृष्टि पैदा न करे। जहाँ यह ममत्व हुआ, वहाँ सत्ता का दुरुपयोग अनिवार्य है। किन्तु यदि अनासक्त

भाव से सत्ता का प्रयोग किया जाय तो मनुष्य को पागल बना देनेवाली सत्ता को भी समाज-राष्ट्र की सच्ची सेवा का शुद्ध साधन बनाया जा सकेगा।

सूत्र ९वाँ : सत्ता और सम्पत्ति साध्य नहीं

सत्ता और सम्पत्ति को मानव-सेवा का साधन मानना, न कि व्यक्ति जीवन का साध्य।

सत्ता और सम्पत्ति की शक्तियाँ समता-साधक के हाथों में मानव-सेवा की साधनरूप बनी रहनी चाहिये किन्तु जहाँ व्यक्ति ने सत्ता और सम्पत्ति को अपने जीवन के साध्य रूप में धार लिया और तदनुसार आचरण आरम्भ कर दिया तो समझ लीजिये कि उसने अपने आपको विषमता के नरककुण्ड में पटक दिया है। सत्ता और सम्पत्ति यदि व्यक्ति के जीवन के साध्य नहीं रहे तथा सामाजिक सेवा के साधन रूप बन जाएं तो समाज में इनके स्वस्थ वितरण की समस्या का भी सरल समाधान निकल आयगा। समता साधक को ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की दिशा में आगे बढ़ना होगा।

सूत्र १०वाँ : सादगी और सरलता

सादगी, सरलता एवं विनम्रता में विश्वास रखना तथा नये सामाजिक मूल्यों की रचना में सक्रिय बने रहना।

क्रान्ति न हठ है, न दुराग्रह है और न रक्तपात है। नये सामाजिक मूल्यों की रचना का नाम क्रान्ति है जिसका क्रम सदा चलता रहना चाहिये ताकि मूल्यों में विकारों का प्रवेश ही न हो सके। किन्तु समता-साधक जब क्रान्ति का बीड़ा उठाता है तो उसमें सादगी, सरलता एवं विनम्रता की मात्रा भी बढ़ जाती है। जितनी अधिक सा

उतनी ही अधिक सरलता। अधिक सम्पन्नता, अधिक सादगी और अधिक विशिष्ट विकास तो अधिक विनम्रता—यह समता साधक का धर्म होना चाहिये।

सूत्र ११वां : स्वाध्याय और चिन्तन

चरित्र निर्माण की धारा में चलते हुए धार्मिक एवं नैतिक शिक्षण पर बल देना तथा प्रतिदिन एक निर्धारित समय में स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन का क्रम नियमित बनाये रखना।

मनुष्य हर समय किसी न किसी कार्य में प्रवृत्त बना रहता ही है, किन्तु उसे यह देखने की फुरसत नहीं होती कि उसकी प्रवृत्ति उचित है अथवा अनुचित—अपनी ही स्वार्थ वासना को लिये हुए है अथवा व्यापक जन-कल्याण कामना को लिये हुए। इसकी जाँच परख तभी हो सकती है जब स्वस्थ एवं नैतिक संस्कार-निर्माण के साथ स्वाध्याय का नित-प्रति क्रम बने। स्वाध्याय के प्रकाश में अपने नित-प्रति के कार्यों की एक कसौटी तैयार होगी और उसके बाद जब चिन्तन मनन का नियमित क्रम बनेगा तो फिर समूचे कार्यों की गति उन्नायक दिशा की ओर ही मुड़ जायगी।

इस प्रकार ये २१ सूत्र समता-साधक को समूचे रूप में एक दिशा निर्देश देते हैं कि वह अपने जीवन को व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की समता हेतु समर्पित कर दे।

सूत्र १२वां : कुरीतियों का त्याग

सामाजिक कुरीतियों का त्याग करना तथा उनमें भी दहेज प्रथा को सख्ती से समाप्त करना।

जिस समाज में रूढ़ परम्पराओं एवं कुरीतियों का निर्वाह होता है, वह कभी भी जागृत समाज नहीं कहला सकता। कुरीतियों पर अन्ध

बनकर चलते रहने से सद्गुणो एवं श्रेष्ठ वर्ग का ह्रास होता जाता है। वर्तमान समाज में जिस कदर कुरीतियाँ चल रही है, वे मानवता विरोधी बन गई है। दहेज प्रथा को ही लें तो यह कितनी निकृष्ट है कि लड़के बेचे जाते है और उस पर गरूर किया जाता है। एक समता साधक को स्वयं को तो ऐसी सारी कुरीतियों से मुक्ति लेती ही होगी बल्कि उनको नष्ट करने के लिये उसे समाज के क्षेत्र में कड़ा संघर्ष भी छेड़ना होगा। समतामय स्थिति का निर्माण इस तथ्य पर निर्भर करेगा कि कितनी मजबूती से और कितनी जल्दी समाज को ऐसी कुरीतियों से मुक्त करके वहाँ मानवता-प्रसारिणी रीतियों का शुभारम्भ किया जाता है ?

सूत्र १३वाँ : व्यापार सीधा और सच्चा

वस्तु में मिलावट करके, कम ज्यादा तोल या माप कर अथवा किसी भी अन्य प्रकार से धोखेपूर्वक नही बेचना तथा मायावी व्यापार से दूर रहना।

आज जिसे उलझा हुआ आर्थिक जाल कहा जाता है और अर्थ शोषण से राजनीति-दोहन तक का जो चक्र चलता है, उसे कुटिल व्यापार प्रणाली की ही तो देन समझना चाहिये। व्यापार सीधा और सच्चा रहे तबतक तो वह समाज की सेवा का साधक बना रहेगा, किन्तु ज्योंही उसे लोभ के दृष्टिकोण पर आधारित कर लिया जायगा तो वहीं भ्रष्टाचार एवं अत्याचार का कारण बन जायगा। वर्तमान विश्व में आर्थिक साम्राज्यवाद का जो जटिल नागपाश दिखाई देता है, वह शुरू व्यापार की मिलावट, धोखाधड़ी और भूठवाजी से ही होता है अतः समता-साधक का व्यापार सीधा और सच्चा बने—यह जरूरी है।

सूत्र १४वाँ धन-धान्य का

व्यक्ति, समाज व राष्ट्र आदि की ...
के अतिरिक्त धन-धान्य पर निजी अधिकार

भी उचित आवश्यकता से अधिक धन-धान्य हो तो उसे ट्रस्ट रूप में करके यथावश्यक सम्यक् वितरण में लगा देना।

जो मन से लेकर मनुष्य के कर्म तक विषमता का विष फैलाता है वह परिग्रह और उससे भी ऊपर परिग्रह की लालसा होती है। इस कारण समता साधक को परिग्रह के ममत्व से दूर रहना होगा। एक ओर वह आवश्यकता से अधिक धन्य-धान्य एवं अन्य पदार्थों का संग्रह, न करे तो दूसरी ओर सम्पत्ति आदि भोग्य पदार्थों की न्यूनतम मर्यादाएँ भी ग्रहण करे। धन-धान्य आदि पदार्थों के सम-वितरण की समाज में जितनी सशक्त परिपाटी जितनी जल्दी कायम की जा सकेगी, उतनी ही श्रेष्ठता के साथ समता का भावनात्मक एवं क्रियात्मक प्रसार संभव हो सकेगा।

सूत्र १५वाँ : नैतिकता से आध्यात्मिकता

नैतिक धरातल की पुष्टता के साथ सुघड़ आध्यात्मिक जीवन के निर्माणार्थ तदनुरूप सद्प्रवृत्तियों का अनुपालन करना।

समता साधक गृहस्थ धर्म में रहकर पहले नैतिक धरातल को पुष्ट बनावे और उस पुष्टि के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करे ताकि वहाँ पर प्राभाविक रूप से नया वातावरण बना सके। यदि अपनी अर्जन प्रणाली, दिनचर्या या व्यवहार परिपाटी में नैतिकता नहीं समाई तो भला वहाँ आध्यात्मिकता का विकास कैसे किया जा सकेगा?

सूत्र १६वाँ : सुधार का अहिंसक प्रयोग

संयम की उत्तम मर्यादाओं एवं किसी भी प्रकार के अनुशासन को भंग करने वाले लोगों को अहिंसक असहयोग के उपाय से सुधारना, किन्तु द्वेष की भावना न लाना।

समता-साधक अहिंसा को ऐसे सशक्त अस्त्र के रूप में तैयार करे एवं प्रयोग में लावे कि द्वेष तथा प्रतिशोध रहित होकर सर्वत्र सुधार के कार्यक्रम चलाये जा सकें। गांधी जी कहा करते थे कि वे भारत में अंग्रेजी राज के विरुद्ध हैं, अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं और इसे वे अहिंसा की भावना बताते थे। वह भावना सही थी। "घृणा पाप से हो—पापी से कभी नहीं लवलेश"—यह अहिंसा की सीख होती है। व्यक्ति से कैसी घृणा—उससे द्वेष क्यों? अहिंसात्मक असहयोग के जरिये व्यक्ति क्या—समूह का सुधार भी संभव हो सकता है।

सूत्र १७वाँ : गुण-कर्म से वर्गीकरण

मानव जाति में गुण एवं कर्म के अनुसार वर्गीकरण में विश्वास रखते हुए किसी भी व्यक्ति से घृणा या द्वेष नहीं रखना।

किसी जाति या घर में जन्म ले लेने मात्र से ही कोई उच्च वर्ण का कहलाए तो कोई शूद्र—इसे मानवीय व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। जाति प्रथा एक रूढ़ प्रथा है। मानव समाज में जब समता के आदर्श को लेकर चलना है तो समाज का वर्गीकरण रूढ़ प्रथाओं को आधार बनाकर नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के अर्जित गुणों एवं कार्यों की ऊँच-नीचता की नींव पर जो वर्गीकरण खड़ा किया जायगा, वही वास्तव में मानवीय समता को एक ओर पुष्ट करेगा तो दूसरी ओर सद्गुणों एवं सत्कर्मों को प्रेरित भी करेगा। समता-साधक की इस कारण मानव-जाति में गुण एवं कर्म के वर्गीकरण किये जाने में न सिर्फ दृढ़ आस्था ही होनी चाहिये, बल्कि ऐसे वर्गीकरण के लिये उसके समस्त प्रयास नियोजित होने चाहिये। ऐसे वर्गीकरण में व्यक्ति-व्यक्ति के साथ घृणा करे या द्वेष रखे—इसकी गुंजायश ही कम हो जायगी।

सूत्र १८वाँ : भावात्मक एकता

सम्पूर्ण मानव जाति की एकता के आदर्श को समक्ष रखते हुए समाज एवं राष्ट्र की भावात्मक एकता को बल देना तथा ऐसी एकता के लिये उत्कृष्ट चरित्र का निर्माण करना।

एकता का अर्थ शक्ति होता है। मन, वचन एवं कर्म की एकता हो तो मनुष्य की मनुष्यता सशक्त बन जाती है। उसी तरह समाज और राष्ट्र में व्यक्तियों की परस्पर एकता की अनुभूति सजग बन जाय तो वह सम्पन्न एवं चारित्र्यशील समाज व राष्ट्र का निर्माण करती है।

यह एकता केवल बाह्य रूपों में ही नहीं अटक जानी चाहिये बल्कि अनुभावों की एकता के रूप में विकसित होनी चाहिये। समता-साधक को अपने अन्तर में हो या समाज-राष्ट्र के अन्तर में—भावात्मक एकता स्थापित करने के प्रयास करने चाहिये। क्योंकि भावात्मक एकता चिरस्थायी एवं शान्ति-प्रदायक होती है तथा समता को पुष्ट बनाती है।

१९वाँ : जनतंत्र वास्तविक बने

राज्य की जनतंत्रीय प्रणाली का दुरुपयोग नहीं करना तथा जनशक्ति के उत्थान के साथ इसे वास्तविक एवं सार्थक बनाना।

जनतंत्र केवल एक राज्य प्रणाली नहीं है, अपितु एक जीवन-प्रणाली है। जीवन की मूल आवश्यकताओं की उपलब्धि के साथ प्रत्येक नागरिक विभिन्न स्वतंत्रताओं का संगत उपभोग कर सके तथा अपने जीवन-विकास की स्वस्थ दिशाओं को खोज सके—यह जनतंत्रीय प्रणाली की विशेषता है। किन्तु सम्पन्न वर्ग अपने स्वार्थों के कारण ऐसी सर्वहितकारी प्रणाली का भी दुरुपयोग करने लग जाता है एवं उसे भ्रष्ट तथा विकृत बना देता है। तो समता-साधक का कर्तव्य माना जाना चाहिये कि वह समाज में ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध करे तथा उन्हें दूर करे जो जनतंत्र का दुरुपयोग करने की कुचेष्टाएँ करती हैं।

सूत्र २०वाँ : ग्राम से विश्वधर्म

प्रत्येक समता साधक ग्रामधर्म, नगरधर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म, एवं विश्वधर्म की सुव्यवस्था के प्रति सतर्क रहे, तदन्तर्गत अपने कर्त्तव्यों को निबाहे तथा तत्सम्बन्धी नैतिक नियमों का पालन करे। इन धर्मों के सुचारु संचालन में कोई दुर्व्यवस्था पैदा नहीं करे तथा दुर्व्यवस्था पैदा करने या फैलाने वालों का किसी भी रूप में कोई सहयोग नहीं करे।

यहाँ धर्म से कर्त्तव्य का बोध लिया जाना चाहिये। ग्राम, नगर, राष्ट्र, विश्व आदि के प्रत्येक मनुष्य के अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न कर्त्तव्य होते हैं और उसकी सामाजिकता के अनुभाव की सार्थकता यही होगी कि वह इन सभी विभिन्न समूहों के हितों के साथ अपने हितों का सुन्दर तालमेल बिठावे तथा जब भी आवश्यकता पड़े—वह स्वहित की यथास्थान बलि देकर भी सामूहिक हितों की रक्षा करे। इन सभी कर्त्तव्यों का आधारगत सार यही होगा।

सूत्र २१ वाँ : समता पर आधारित समाज

समता के दार्शनिक एवं व्यवहारिक पहलुओं के आधार पर नये समाज की रचना एवं व्यवस्था में विश्वास रखना।

यहाँ कहीं साध्य या उद्देश्य की बात हो, वहाँ पूर्ण सतर्कता आवश्यक है। साध्य यह है कि जिस नये समाज की कल्पना है, उसका आधार पूर्णतया समता पर आधारित होना चाहिये। एक समता-साधक का इस दृष्टि में पूरा विश्वास भी होना चाहिये तथा पूरा पुरुषार्थ भी कि वह विषमताओं को हटाने के काम को अपना पहला काम समझे तथा प्रत्येक व्यक्ति, संगठन या समूह को स्वस्थ समता का आधार प्रदान करे।

आचरण की आराधना के तीन चरण

साधुत्व से पूर्व स्थिति में समता-साधक की साधना के तीन चरणों या सोपानों का इस हेतु निर्धारण किया जा रहा है जिससे स्वयं साधक को प्रतीति हो तथा समाज में उसकी पहिचान हो कि समता की साधना में वह किस स्तर पर चल रहा है ? इस प्रतीति और पहिचान से साधक के मन में उन्नति की आकांक्षा तीव्र बनी रहेगी।

उपरोक्त तीन चरण निम्न हैं—

१. समतावादी
२. समताधारी
३. समतादर्शी।

समतावादी की पहली श्रेणी

पहली एवं प्रारम्भिक श्रेणी उन समता—साधकों की हो, जो समता दर्शन में गहरी आस्था, नया खोजने की जिज्ञासा एवं अपनी परिस्थितियों की सुविधा से समता के व्यवहार में सचेष्ट होने की इच्छा रखते हों। पहली श्रेणीवालों को वादी इस कारण कहा है कि वे समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षों का सर्वत्र समर्थन करते हों एवं सबके समक्ष २१ सूत्रों एवं ३ चरणों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हों। स्वयं भी आचरण की दिशा में आगे बढ़ने के संकल्प की तैयारी कर रहे हों और किन्हीं अंशों में आचरण का श्रीगणेश कर चुके हों। ऐसे साधकों का नाम समतावादी रखा जाय, जिनके लिये निम्न प्रारम्भिक नियम आचरणीय हो सकते हैं—

(१) विश्व में रहने वाले समस्त प्राणियों में समता की मूल स्थिति को स्वीकार करना एवं गुण तथा कर्म के अनुसार ही उनका वर्गीकरण मानना। अन्य सभी विभेदों को अस्वीकार करना और गुण-कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थिति बनाने का संकल्प लेना।

(२) समस्त प्राणीवर्ग का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकारना तथा अन्य प्राणों के कष्टक्लेश को स्व-कष्ट मानना।

(३) पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्तव्यों को महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना।

(४) सब कुव्यसनों को धीरे-धीरे ही सही पर त्यागते रहने की दिशा में आगे बढ़ना।

(५) प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व कम से कम एक घंटा नियमित रूप से समता-दर्शन की स्वाध्याय, चिन्तन एवं समालोचना में व्यतीत करना।

(६) कदापि आत्मघात न करने एवं प्राणिघात की रक्षा करने का संकल्प लेना।

(७) सामाजिक कुरीतियों को त्याग कर विषमताजन्य वातावरण को मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराएँ डालना।

सक्रिय सो समताधारी

समता के दार्शनिक एवं व्यवहारिक धरातल पर जो दृढ़ चरणों से चलना शुरू कर दें, उन्हें समताधारी की दूसरी उन्नतर श्रेणी में लिया जाय। समताधारी दर्शन के चारों सोपानों को हृदयंगम करके २१ सूत्रों पर व्यवहार करने में सक्रिय बन जाता है। एक प्रकार से समतामय आचरण की सर्वाङ्गीणता एवं सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समताधारी कहा जाय।

समताधारी निम्न अग्रगामी नियमों का अनुपालन करे—

(१) विषमताजन्य अपने विचारों, संस्कारों एवं आचारों को समझना तथा विवेकपूर्वक उन्हें दूर करना। अपने आचरण से किसी को भी क्लेश न पहुँचाना व सबसे सहानुभूति रखना।

(२) द्रव्य, सम्पत्ति तथा सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समतापूर्ण चेतना एवं कर्तव्यनिष्ठा को मुख्यता देना।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, अपरिग्रह एवं अनेकान्तवाद के स्थूल नियमों का पालन करना, उनकी मर्यादाओं में उच्चता प्राप्त करना एवं भावना की सूक्ष्मता तक पैठने का विचारपूर्वक प्रयास करते रहना।

(४) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के समवितरण में आस्था रखना तथा व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथाविकास, यथायोग्य जन-कल्याणार्थ अपने पास से परित्याग करना।

(५) परिवार की सदस्यता से लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एवं विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि एवं सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वों के साथ निभाना।

(६) जीवन में जिस किसी पद पर या कार्यक्षेत्र में रत हों उसमें भ्रष्टाचरण से मुक्त होकर समतामरी नैतिकता एवं प्रामाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना।

(७) स्व-जीवन में संयम को तो सामाजिक जीवन में सर्वथा नियम को प्राथमिकता देना एवं सानुशासन बनना।

साधक की सर्वोच्च सीढ़ी—समतादर्शी

समतादर्शी की श्रेणी में साधक का प्रवेश तब माना जाय जब वह समता के लिये बोलने और धारने से आगे बढ़ कर संसार को समतापूर्ण बनाने व देखने की दृष्टि और कृति प्राप्त करता है। तब वह साधक व्यक्ति के व्यक्तित्व से ऊपर उठकर एक समाज और संस्था का रूप ले लेता है क्योंकि तब उसका लक्ष्य परिवर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन में समाहित कर लेना बन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुंच जाता है, जहाँ वह अपने स्वहित को भी परहित में विलीन कर देता है एवं सारे समाज में सर्वत्र समता लाने के लिये जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन बनने की बजाय तब समता का वाहक बन जाता है।

समतादर्शी निम्न उपस्थ नियमों को अपने जीवन में रमाले—

(१) समस्त प्राणिवर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना व आचरना तथा समग्र आत्मीय शक्तियों के विकास में अपने जीवन के विकास को देखना। अपनी विषमताभरी दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करके आदर्श की स्थापना करना एवं सबमें समतापूर्ण प्रवृत्तियों के विकास को बल देना।

(२) आत्मविश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि विश्वासघात न अन्य प्राणियों के साथ और न स्वयं के साथ जाने या अनजाने भी संभव हो।

(३) जीवन क्रम के चौबीसों घंटों में समतामय भावना एवं आचरण का विवेकपूर्ण अभ्यास एवं आलोचन करना।

(४) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द्र, सहानुभूति एवं सहयोग रखते हुए दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना—आत्मवत् सर्व-भूतेषु।

(५) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान में रखकर चाहे राजनीति के क्षेत्र में हो अथवा आर्थिक या अन्य क्षेत्र में आत्मबल के आधार पर अन्याय की शक्तियों से संघर्ष करना तथा समता के समस्त अवरोधों पर विजय प्राप्त करना।

(६) चेतन व जड़ तत्त्वों के विभेद को समझ कर जड़ पर से ममता हटाना, जड़ की सर्वत्र प्रधानता हटाने में योग देना तथा चेतन को स्वधर्मी मान उसकी विकासपूर्ण समता में अपने जीवन को नियोजित कर देना।

(७) अपने जीवन में और बाहर के वातावरण में राग और द्वेष दोनों को संयमित करते हुए सर्व प्राणियों में समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना, वरण करना तथा अपनी चिन्तन धारा में उसे स्थायित्व देना। समदर्शिता के जीवन का सार बना लेना।

साधुत्व तक पहुँचाने वाली ये तीन श्रेणियाँ

इन तीनों श्रेणियों में यदि एक समता-साधक अपना समुचित विकास करता जाय तथा समदर्शी श्रेणी में अपनी हार्दिकता एवं कर्मठता को रमा ले तो उसके लिये यह कहा जा सकता है कि वह साधक भावना की दृष्टि से साधुत्व के सन्निकट पहुंच गया है। तीसरी श्रेणी को गृहस्थ-धर्म का सर्वोच्च विकास माना जायगा।

ये जो तीनों श्रेणियों के नियम बताये गये हैं, इनके अनुरूप एक से दूसरी व दूसरी से तीसरी श्रेणी में अग्रसर होने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण विचार एवं विवेकपूर्ण पृष्ठभूमि के साथ सन्तुलित एवं संयमित करते रहना चाहिये ताकि समता व्यक्ति के मन में और समाज के जीवन में चिरस्थायी रूप ग्रहण कर सके। यही आत्म-कल्याण एवं विश्वविकास का प्रेरक पाथेय है।

समता-साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एवं अनुप्रेरक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से एक समता-समाज की स्थापना की जाय, उसकी सदस्यता हो, सदस्यों के विकास का सम्पूर्ण लेखा-जोखा रखा जाय एवं अन्य प्रवृत्तियाँ चलाई जांय—इसके लिये आगामी अध्याय में एक रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

●

:१०:

समता समाज की संक्षिप्त रूपरेखा

माँ की ममता का कोई मुकाबिला नहीं, किन्तु बच्चे को उस ममता का अहसास तभी होता है, जब माँ स्नेहपूर्वक बच्चे को स्तन-पान कराती है और मधुर दूध से बच्चे की क्षुधा मिटाती है। किसी भी तत्त्व की आन्तरिकता ही मूल में महत्वपूर्ण होती है किन्तु उसे अधिक प्राभाविक एवं अधिक बोधगम्य बनाने हेतु उसके बाह्य स्वरूप की भी रचना करनी होती है। अपनी गंभीर आन्तरिकता को लेकर जब बाह्य स्वरूप प्रकट होता है तो वह प्रेरणा का प्रतीक भी बन जाता है।

अन्तर में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ़ हो सकता है, किन्तु जबतक उसे सहज रूप में बाहर प्रकट नहीं करें, उसको विशेषताओं का व्यापक रूप से प्रसार नहीं हो सकता है। समता-दर्शन के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी बाह्य प्रतीक निर्मित किये जांय तो इसके प्रचार प्रसार में सुविधा होगी। समता-दर्शन का कोई अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी कोई सक्रिय हो किन्तु यदि ऐसे साधकों को एक सूत्र में आबद्ध रहने हेतु किसी संगठन को रचना को जाय तो साधकों को यह सुविधा होगी कि वे परस्पर के सम्पर्क से अपनी साधना को अधिक सुगठित एवं सुचारु बना सकेंगे और सामाजिक रूप से

साधकों का सुप्रभाव समूचे समाज पर इस रूप में पड़ेगा कि लोग इस दिशा में अधिकाधिक आकर्षित होने लगेंगे।

एक प्रकार से समता के दर्शन एवं व्यवहार पक्षों का मूर्त रूप ऐसा समता-समाज होना चाहिये जो समता मार्ग पर सुस्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर सारे संसार को प्रभावित करे।

समता-समाज क्यों ?

सारे मानव समाज को यदि भिन्न-भिन्न भागों में विभाजित करें तो विविध विचारधाराओं, मान्यताओं एवं सम्बन्धों पर आधारित कई वर्ग निकल आवेंगे, बल्कि सारे मानव समाज को एकरूप में विभिन्न समाजों का एक समाज ही कहा जा सकता है। तो ऐसे विभिन्न समाजों में 'समता-समाज' के नाम से एक और समाज की वृद्धि क्यों ?

मानव समाज इतना विशाल समाज है कि एक ही बार में एक मानव उसे समग्र रूप में आन्दोलित करना चाहे तो एक कठिनतम कार्य होगा। कार्य एक साथ नहीं साधा जाता, क्रमबद्धरूप से ही आगे बढ़ते हुए उसे साधना सरल एवं सुविधाजनक होता है। सारे संसार में माने कि सभी विभिन्न क्षेत्रों में समतामय जीवन की प्रणाली की स्थापना एक साथ सरल नहीं हो सकती। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य में समता के विचार-बिन्दु को हृदयंगम कराना तथा उसके आचरण को जीवन में उतारना एक क्रमबद्ध कार्यक्रम ही हो सकता है। समता समाज इस क्रमबद्ध कार्यक्रम को सफल बनाते हुए समता के निरन्तर विस्तार का ही एक संगठन कहा जा सकता है। संगठन की शक्ति उसके सदस्यों पर आधारित होती है तथा समता-समाज भी कितना शक्तिशाली बन सकेगा—यह इसके साधक सदस्यों पर निर्भर करेगा।

"समता-समाज" के नाम से कायम होने वाला यह संगठन एक जीवन्त संगठन होना चाहिये जो बिना किसी भेद-भाव के सिर्फ मानवीय

धारणाओं को लेकर मात्र मानवता के धरातल पर मानवीय समता की उपलब्धि हेतु कार्य करे एवं विभिन्न क्षेत्रों में विषमताभरे वातावरण को हटा कर समतामय परिस्थितियों के निर्माण में योग दे।

•

"समता समाज" का कार्यक्षेत्र

समता-समाज का कार्यक्षेत्र किसी भौगोलिक सीमा में आबद्ध नहीं होगा। जहाँ-जहाँ विषमता है और जहाँ-जहाँ समता के साधक खड़े होते आयेंगे, वहाँ-वहाँ समता-समाज के कार्यक्षेत्र खुलते जायेंगे। प्रारम्भ में किसी भी एक बिन्दु से इस समाज का कार्यारम्भ किया जा सकता है और फिर उस केन्द्र से ऐसा यत्न किया जाय कि देश में चारों ओर इस समाज के सदस्य बनाये जांय जो निष्ठापूर्वक चार सोपानों, इक्कीस सूत्रों एवं तीन चरणों में आस्था रखें तथा व्यवहारिक रूप से अपने जीवन में समता-तत्त्व को यथाशक्ति समाहित करें। यदि प्रारंभिक प्रयास सफल बनें तथा देश में समता-समाज का स्वागत हो और समता समाज के सदस्य चाहें तो कोई कठिन नहीं कि इस अभियान को विदेशों में भी लोकप्रिय बनाया जाय। समाज के उद्देश्य तो वैसे ही सबको छूने एवं सबमें समाने वाले है।

समाज के व्यापक उद्देश्य

जो अब तक विश्लेषण किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति एवं समाज के आन्तरिक एवं बाह्य जीवनों में समता रम जाय एवं चिरस्थायी रूप ग्रहण कर ले—यह समता समाज को अभीष्ट है। कहा नहीं जा सकता कि इस अभियान को सफल होने में कितना समय लग जाय, किन्तु कोई भी अभियान कभी भी सफलता तभी प्राप्त कर सकेगा, जब उसके उद्देश्य स्पष्ट हों एवं उनमें व्यापक जन-कल्याण की झलकती हो।

समाज के उन्नायक उद्देश्यों को संक्षेप में निम्न रूप से गिनाया जा सकता है।

(१) व्यक्तिगत रूप से समता साधक को समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी की श्रेणियों में साधनारत बनाते हुए अपने व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की ओर अग्रसर बनाना।

(२) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की विषमताओं से संघर्ष करना एवं सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना।

(३) व्यक्ति और समाज के हितों में ऐसे तालमेल बिठाना जिससे दोनों समतामय स्थिति लाने में पूरक शक्तियाँ बनें—समाज व्यक्ति को धरातल दे तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करे।

(४) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एवं वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छोड़कर स्वार्थों एवं, विचारों के टकराव को रोकना तथा सामाजिक न्याय एवं सत्य को सर्वोपरि रखना।

(५) स्थान-स्थान पर समता-साधकों को संगठित करके समाज की शाखा उपशाखाओं की स्थापना करना, साधारण जन को समता का महत्त्व समझाने हेतु विविध संयत प्रवृत्तियों का संचालन करना एवं सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन के लिये सचेष्ट रहना।

समता-समाज किनका ?

किसी देश-प्रदेश, जाति-सम्प्रदाय, वर्ण-वर्ग या दल विशेष का यह समाज नहीं होगा। प्रारम्भ में समाज का आकार छोटा हो सकता है किन्तु इसका प्रकार कभी छोटा नहीं होगा। जो अपने आपको सीधे और सच्चे रूप में मनुष्य नाम से जानता है और मनुष्यता के सर्वोपरि विकास में रुचि रखता है, वह इस समाज का सदस्य बन सकता है। समता-समाज सम्पूर्ण मानव जाति का समाज होगा और इसकी सदस्यता का मूल आधार गुण और कर्म होगा क्योंकि इसकी साधना श्रेणियों का निर्माण भी गुण एवं कर्म के आधार से ही बनाया गया है।

दूसरे शब्दों में यों कहें कि समता-समाज उन लोगों का संगठन होगा जो समाज के उद्देश्यों में विश्वास रखते होंगे, इसके २१ सूत्रों तथा ३ चरणों को अपनाने के लिये आतुर होंगे एवं अपने प्रत्येक आचरण में समता के आदर्श की झलक दिखायेंगे। समाज अपने सदस्यों की कर्मठता का केन्द्र होगा तो अन्य सभी के लिये प्रेरणा का स्रोत भी, क्योंकि अन्ततोगत्वा तो समाज का लक्ष्य राजनीतिक, आर्थिक एवं अन्य सभी क्षेत्रों में मानवीय समता स्थापित करके आध्यात्मिक क्षेत्र में समता के महान् आदर्श को प्रकाशमान बनाना है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समता समाज २१ सूत्रों के पालक एवं ३ चरणों में साधनारत साधकों का संगठन होगा जो गृहस्थ धर्म में रहते हुए भी उज्ज्वल नक्षत्रों के रूप में संसार के विविध क्षेत्रों में समता के सुखद सन्देश को न केवल फैलायेंगे बल्कि उसे कार्यान्वित कराने के काम में सर्वदा एवं सर्वत्र निरत रहेंगे।

समाज की सदस्यता कैसे मिले?

समता-समाज की संयोजक स्थापना के बाद सदस्यता का अभियान आरंभ किया जाय किन्तु यह अभियान सस्ता और संख्यामूलक नहीं होना चाहिये। कुछ निष्ठावान् संस्थापक लोग साधारण रूप से समाज के उद्देश्यों को समझावें, भावनात्मक दृष्टि से सदस्यता चाहनेवाले की जाँच-परख करें तथा उसकी संकल्प-शक्ति को जानकर उसे सदस्यता प्रदान करें। विवेक, विश्वास और विराग सदस्यता के आधार-बिन्दु बनने चाहिये।

सदस्यता-प्राप्ति का एक आवेदन-पत्र तैयार किया जाय, जिसमें समता क्षेत्र में कार्य करने की उसकी वर्तमान आकांक्षा एवं भविष्य के संकल्पों का स्पष्ट अंकन हो। वह अपनी आकांक्षा एवं संकल्पों का प्रकटीकरण समता के दार्शनिक एवं व्यवहारिक पक्षों की जानकारी के अनुसार ही करेगा। उसे यह भी संकेत देना होगा कि समता के क्षेत्र में

समाज के उन्नायक उद्देश्यों को संक्षेप में निम्न रूप से गिनाया जा सकता है।

(१) व्यक्तिगत रूप से समता साधक को समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी की श्रेणियों में साधनारत बनाते हुए अपने व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की ओर अग्रसर बनाना।

(२) मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रों की विषमताओं से संघर्ष करना एवं सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना।

(३) व्यक्ति और समाज के हितों में ऐसे तालमेल बिठाना जिससे दोनों समतामय स्थिति लाने में पूरक शक्तियाँ बनें—समाज व्यक्ति को धरातल दे तो व्यक्ति उस पर समता सदन का निर्माण करे।

(४) स्वार्थ, परिग्रह की ममता एवं वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छेड़कर स्वार्थों एवं विचारों के टकराव को रोकना तथा सामाजिक न्याय एवं सत्य को सर्वोपरि रखना।

(५) स्थान-स्थान पर समता-साधकों को संगठित करके समाज की शाखा उपशाखाओं की स्थापना करना, साधारण जन को समता का महत्त्व समझाने हेतु विविध संयत प्रवृत्तियों का संचालन करना एवं सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन के लिये सचेष्ट रहना।

समता-समाज किनका ?

किसी देश-प्रदेश, जाति-सम्प्रदाय, वर्ण-वर्ग या दल विशेष का यह समाज नहीं होगा। प्रारम्भ में समाज का आकार छोटा हो सकता है किन्तु इसका प्रकार कभी छोटा नहीं होगा। जो अपने आपको सीधे और सच्चे रूप में मनुष्य नाम से जानता है और मनुष्यता के सर्वोपरि विकास में रुचि रखता है, वह इस समाज का सदस्य बन सकता है। समता-समाज सम्पूर्ण मानव जाति का समाज होगा और इसकी सदस्यता का मूल आधार गुण और कर्म होगा क्योंकि इसकी साधना श्रेणियों का निर्माण भी गुण एवं कर्म के आधार से ही बनाया गया है।

दूसरे शब्दों में यों कहें कि समता-समाज उन लोगों का संगठन होगा जो समाज के उद्देश्यों में विश्वास रखते होंगे, इसके २१ सूत्रों तथा ३ चरणों को अपनाने के लिये आतुर होंगे एवं अपने प्रत्येक आचरण में समता के आदर्श की झलक दिखायेंगे। समाज अपने सदस्यों को कर्मठता का केन्द्र होगा तो अन्य सभी के लिये प्रेरणा का स्रोत भी, क्योंकि अन्ततोगत्वा तो समाज का लक्ष्य राजनीतिक, आर्थिक एवं अन्य सभी क्षेत्रों में मानवीय समता स्थापित करके आध्यात्मिक क्षेत्र में समता के महान् आदर्श को प्रकाशमान बनाना है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि समता समाज २१ सूत्रों के पालक एवं ३ चरणों में साधनारत साधकों का संगठन होगा जो गृहस्थ धर्म में रहते हुए भी उज्ज्वल नक्षत्रों के रूप में संसार के विविध क्षेत्रों में समता के सुखद सन्देश को न केवल फैलावेंगे बल्कि उसे कार्यान्वित कराने के काम में सर्वदा एवं सर्वत्र निरत रहेंगे।

समाज को सदस्यता कैसे मिले ?

समता-समाज की संयोजक स्थापना के साथ सदस्यता का अभियान आरंभ किया जाय किन्तु यह अभियान सस्ता और संख्यामूलक नहीं होना चाहिये। कुछ निष्ठावान् संस्थापक लोग साधारण रूप से समाज के उद्देश्यों को समझावें, भावनात्मक दृष्टि से सदस्यता चाहनेवाले को जांच-परख करें तथा उसकी संकल्प-शक्ति को जानकर उसे सदस्यता प्रदान करें। विवेक, विश्वास और विराग सदस्यता के आधार-बिन्दु बनने चाहिये।

सदस्यता-प्राप्ति का एक आवेदन-पत्र तैयार किया जाय, जिसमें समता क्षेत्र में कार्य करने की उसकी वर्तमान आकांक्षा एवं भविष्य के संकल्पों का स्पष्ट अंकन हो। यह अपनी आकांक्षा एवं संकल्पों का प्रकटीकरण समता के दार्शनिक एवं व्यावहारिक पक्षों की जानकारी के अनुसार ही करेगा। उसे यह भी संकेत देना होगा कि समता के क्षेत्र में

अपनी निजी साधना के सिवाय सार्वजनिक साधना में कितना समय, श्रम अथवा अन्य प्रकार से सहयोग देगा ?

समाज की सदस्यता का आवेदन पत्र इस प्रारूप के अनुसार हो सकता है।

मैं.................................... (नाम) ....

(पिता का नाम)...................... (निवासी) ....

(वर्तमान निवास यदि हो) .... (आयु) ....

(व्यवसाय)................................ (वर्तमान जाति, गोत्र जिसका भविष्य में समता समाज की कार्यवाही में व्यवहार नहीं किया जायगा)

समता-समाज की सदस्यता प्राप्त करने हेतु आवेदन कर रहा हूं।

मैंने समता समाज के उद्देश्यों, सूत्रों, चरणों एवं नियमों तथा साधना-श्रेणियों की पूरी जानकारी करली है। मैं अभी निम्न सूत्रों के अनुपालन में रत हूं/इच्छुक हूं —

१. ....

२. ....

३. .... आदि।

अतः मुझे .... श्रेणी में प्रवेश दिया जाय। मैं अपनी अनुपालना की नियमित रिपोर्ट केन्द्र को भेजता रहूंगा एवं समाज द्वारा निर्देशित अभियानों में सक्रिय भाग लूंगा।

"मैं वर्तमान में अपनी ओर से समाज को .... घण्टे प्रतिदिन/ .... दिन वार्षिक, ... अन्य .... सेवा समर्पित करता हूं।

"समता समाज के सदस्य बनाने सम्बन्धी निर्णय एवं अन्य निर्देशों से सूचित करें।

दिनांक...................... ....

(हस्ताक्षर)

ऐसे आवेदन-पत्र की तथ्यात्मक रूप से जांच की जाय, स्थानीय प्रतिष्ठित व्यक्तियों से एवं स्वयं आवेदक से विशेष चर्चा की जाय तथा साधक की निष्ठा से प्रभावित होकर उसे समाज की सदस्यता प्रदान की जाय। केन्द्र एवं स्थानीय शाखाओं का यह कार्य होगा कि वे अपने प्रत्येक सदस्य के कार्य-कलापों तथा साधना की क्रमोन्नति का पूरा लेखा-जोखा रखें, उसका समय-समय पर विचार-विमर्श करें ताकि वह अन्य आकांक्षियों के लिये प्रेरणा का कारण बन सके।

समाज का सुगठित संचालन

समाज के सुगठित संचालन हेतु दिये गये सूत्रों, उद्देश्यों आदि के अनुसार एक विधान बनाया जाना चाहिये, जिसके अन्तर्गत विविध कार्य-कलापों, पदाधिकारियों के चयन एवं कार्य-निर्वहन आदि की सुचारु व्यवस्था हो। समाज के केन्द्र-स्थान से शाखाओं-उपशाखाओं के खोलने व चलाने पर पूरा नियंत्रण हो तथा नीचे से सुझाव आमंत्रित करके समाज के विभिन्न कार्यक्रम एवं योजनाएँ निर्धारित करने का क्रम बने। सदस्यों, पदाधिकारियों, समितियों एवं शाखाओं का ऐसा तालमेल बिठाया जाय कि समाज का संचालन सभी प्रकार से सुगठित बन सके।

सुगठित संचालन एवं कार्यक्रमों को सार्थक दिशा देने की दृष्टि से एक परामर्शदातृ मंडल का निर्माण भी किया जा सकता है, जिसमें समता व्यवस्था में आस्था रखनेवाले उच्च कोटि के साधकों को सम्मिलित किया जाय। इसमें सन्त-मुनियों का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकता है। यह मंडल नीति-निर्धारण एवं दिशा-निर्देशन के रूप में ही कार्य करे।

गृहस्थ इस समाज के आदि संचालक

समता समाज के निर्माण एवं संचालन का प्रधान कार्य गृहस्थों के अधीन ही रहे, क्योंकि समता के प्रसार का मुख्य कार्य-क्षेत्र भी तो मूल

रूप में सांसारिक क्षेत्र ही होगा। सांसारिक जीवन की विषमताओं से ही समाज को पहला मोर्चा साधना होगा, जहाँ यदि समाज को सफलता मिलती है एवं व्यक्तियों के नैतिक चरित्र को वह उत्थानगामी बना सकता है तो उसका कार्यक्षेत्र तदनन्तर आध्यात्मिक क्षेत्र में भी बढ़ सकता है और वैसी स्थिति में संचालन की व्यवस्था में भी परिवर्तन हो सकता है। किन्तु वर्तमान में समाज के संचालन का पूरा भार गृहस्थों पर रहे तथा ज्यों-ज्यों साधक सदस्यों की संख्या बढ़ती जाय, उनकी इच्छा के अनुसार ही निर्वाचन या चयन से समाज के पदाधिकारी प्रतिष्ठित हों। पदाधिकारियों में विशेष निष्ठा का सद्भाव आवश्यक समझा जाय।

समाज की सक्रिय सदस्यता के नाते जो गृहस्थ आगे आवेंगे, आशा की जाय कि उनमें से भावी साधुओं को दीक्षा हो सके। समदर्शी की तीसरी श्रेणी में यदि साधक अपने मन और कर्म से विरत हो जाता है तो वास्तव में साधुत्व उससे फिर अधिक दूर नहीं रहेगा। स्वहित की आरंभिक संज्ञा के ढलान के सम्बन्ध में जो कहा गया था कि वह उपयुक्त वातावरण पर निर्भर करता है तो समता-साधक और साधु में यह अन्तर रहेगा कि समता-साधक स्वहित और परहित के सन्तुलन में सध जायगा, जहाँ कि साधु साधुत्व में रहता हुआ परहित हेतु स्वहित को भी विसर्जित कर देता है। यह समाज एक प्रकार से गृहस्थों का प्रशिक्षण केन्द्र हो जायगा, जहाँ वे संकुचित स्वार्थों से ऊपर उठकर व्यापक जन-कल्याणार्थ काम करने का अपना मानस एवं पुरुषार्थ बना सकेंगे।

समाज के प्रति साधुओं का रूख

समाज की प्रवृत्तियों के दो पक्ष होंगे। पहला पक्ष सिद्धान्तों, नीतियों एवं संगत कार्य-प्रणालियों से सम्बन्धित होगा तो दूसरा पक्ष संचालन विधि, वित्त एवं हिसाबकिताब से सम्बन्धित होगा। दूसरे पक्ष का पूरा-पूरा सम्बन्ध गृहस्थों से रहेगा तथा साधुओं को उधर देखने की भी आवश्यकता नहीं।

किन्तु जहाँ तक पहले पक्ष का सम्बन्ध है, यह गृहस्थों से भी अधिक साधुओं की जिम्मेदारी मानी जानी चाहिये कि वे समाज के इस मूलाधार पक्ष को कहीं भी समता-दर्शन की मर्यादाओं से बाहर न भटकने दें। सिद्धान्त और नीति सम्बन्धी निर्देशन तो उन्हीं को देना है तथा अपने उपदेशों से वे लोगों को इन समता-सिद्धान्तों तथा नीतियों के प्रति प्रभावित करें—यह सर्वथा समीचीन होगा। साधु वर्ग अपनी निजी मर्यादाओं का निर्वहन करते हुए इस समाज को अपना अधिकाधिक योग दें तो उससे समाज की कार्य-दिशा भी स्वस्थ रहेगी तो दूसरी ओर समाज की आम लोगों में प्रभावपूर्ण प्रतिष्ठा भी बनेगी।

समाज के विस्तार की योजना

एक बार अपने निर्माण के बाद समाज एक स्वस्थ संगठन के रूप में कार्य करने लगे और उसमें प्राप्त सफलताओं के आधार पर इसके विस्तार की आवश्यकता अनुभव हो तब किसी प्रकार की अन्धत्वरता से काम नहीं लिया जाना चाहिये। समाज का विधान भी पर्याप्त लचीला होना चाहिये ताकि विस्तार की प्रत्येक योग्य संभावना का उसमें समावेश किया जा सके।

जब भी समाज के विस्तार की योजना बनाई जाय तो वह अनुभवी साधकों तथा निर्देशक साधुओं की यथायोग्य सम्मति के आधार पर ही बने ताकि उसका विस्तार कहीं विषमता की घाटियों में भटक न जाय। समता की साधना का भाव समाज के किसी भी कार्यक्रम, अभियान और विस्तार में भी ओझल नहीं होना चाहिये।

समाज दीपक का कार्य करे

जहाँ-जहाँ समाज की शाखाएँ-उपशाखाएँ कायम हों, वे उन क्षेत्रों में दीपक का कार्य करें। अपने समता आदर्शों का न सिर्फ उन्हें पालन

करना होगा बल्कि अपने आदर्श पालन से समूचे वातावरण में उन्हें ऐसा प्रभाव भी फैलाना होगा कि लोगों की सहज श्रद्धा समाज के प्रति जागृत हो।

दीपक एक ओर स्वयं प्रकाश फैलाता है तो साथ ही अपनी प्रकाशमान बाती को अगर दूसरे बुझे हुए दीपक की बाती को छू दे तो वह भी प्रकाशमान बन जाता है। यही कार्य समता-साधकों को करना है। अपने ज्ञान और आचरण का प्रकाश तो वे फैलावें ही, किन्तु अपनी विनम्रता एवं मृदुता से वे उन सुषुप्त आत्माओं को जगावें जो विवशता-पूर्वक विषमता में पड़ी हुई कराह रही हैं और जिन्हें किसी उद्धारक की हार्दिक सहानुभूति की अपेक्षा है। समता के क्षेत्र में यह सबसे बड़ी सेवा होगी कि शोषित, पीड़ित एवं दलित वर्गों को उठाने और जगाने का काम पहले हाथ में लिया जाय।

बाती से बाती छुआकर दीपकों की पांत जलाने की उपमा इस मान-वीय अभियान से की जा सकती है। गिरे हुए और पिछड़े हुए वर्गों के के स्वाभिमान को एक बार जगा दिया और उनमें समता की आकांक्षा भर दी जाय तो वे समता के श्रेष्ठ साधकों के रूप में सामने आ सकते हैं। इस तरह दीपकों की पंक्तियां सब ओर प्रज्वलित कर दी गई तो भला फिर समता की दीपावली जगमग क्यों नहीं करने लग जायगी ?

यह एकनिष्ठ प्रयास कैसा ?

समता-समाज के संगठन के रूप में यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह एकनिष्ठ प्रयास कैसा है और क्यों किया जा रहा है ?

घड़ी के अन्दर के पुर्जे आप लोगों में से बहुतों ने देखे होंगे। एक दांतेदार पहिये में दूसरा दांतेदार पहिया इस तरह जुड़ा हुआ होता है कि वे आपस में हिल मिल कर चलते ही नहीं हैं बल्कि खुद चलकर एक दूसरे को चलाते भी हैं। उनका चलना और चलाना आपस के मेल पर टिका रहता है। कल्पना करें कि एक पहिये की दांतें दूसरे पहिये के

दांतों के पास रिक्त स्थानों में फिट होने के बजाय दांतों से दांतें टकरा बैठें तो क्या उन पहियों का चलना-चलाना चालू रह सकेगा ?

घड़ी के निर्माता कारीगर का एकनिष्ठ प्रयास यह रहता है कि वह पुर्जों को इस कुशलता से फिट करे कि कभी कोई दांता दूसरे दांत से टकरावे नहीं। उसकी कुशलता का प्रमाण ही यह मानना चाहिये।

इसी तरह समाज के संचालकों का एकनिष्ट प्रयास यही होना चाहिये कि सारा संगठन आपस में हिलमिल कर अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहे। स्वयं संगठन अपने भीतर अथवा बाहर कहीं भी टकराव का प्रदर्शन न बने। जहाँ ऐसी टकरावटें पैदा होती हैं तो मूल लक्ष्य विस्मृत होने लगता है और वैसी अवस्था में संगठन फिर निष्प्राण ही हो जाता है।

मूल लक्ष्य को पग-पग पर याद रखें

समता समाज के मूल लक्ष्य को यदि कुछ शब्दों में ही कहना है तो वह इन दो शब्द-समूहों में व्यक्त किया जा सकता है—

१. समता की दिशा में व्यक्ति का विकास
२. समाज (मानव समाज) का सुधार।

व्यक्ति और समाज के निरन्तर टकराते रहने का अर्थ है विषमता और जब इन दोनों का तालमेल स्वस्थ रीति से बैठेगा तो दोनों के उत्थान के साथ समता का स्थायी विकास होगा। मुख्यतः व्यक्ति और समाज में संघर्ष होता है व्यक्ति के अपने स्वार्थों से एवं अपने ही लिये सब कुछ पाने एवं संचित कर लेनेकी उद्दाम लालसाओं से। समाज के शक्तिशाली वर्ग जब स्वार्थ में डूब जाते हैं तो वे सामाजिक हितों को ठुकरा देते हैं। चन्द लोग सत्ता और सम्पत्ति का समूचा वर्चस्व थामकर बहुसंख्यक लोगों को अभावों की खाइयों में छटपटाने के लिये छोड़ देते हैं। तब सम्पन्न वर्ग अपने अधिकारों की मदमत्तता में तो अभावग्रस्त वर्ग अपनी दीनता की विवशता में विषमता के दल-दल में फंस जाता है और इस तरह सारे

समाज में विषमता की पूजा होने लगती है। जितनी बाहर की विषमता बढ़ती है, भीतर की कटुता भी जागती है जो मनुष्य को भीतर-बाहर से विषमता का पुतला बना देती है।

विषमता के इस कुचक्र से समता-साधक को सदा सतर्क बना रहना होगा और अपने इस संगठन को भी उससे बचाना होगा। यह तभी हो सकता है जब समता-समाज के मूल लक्ष्यों को पग पग पर याद रखा जाय।

व्यक्ति का विकास और समाज का सुधार

समता समाज वैसा संगठन होना चाहिये जो अपनी दृष्टि में इन दोनों लक्ष्यों को सदा समान महत्त्व दे और इनके लिये समान रूप से कार्य का विवेक रहे। व्यक्ति और समाज अपनी प्रगति में परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं कि यदि कहीं एक पक्ष की उपेक्षा की तो दूसरा पक्ष उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। व्यक्ति के विकास को अधिक महत्त्व दिया और उसके सामाजिक पहलू की उपेक्षा की तो यह हो सकता है कि कुछ व्यक्ति विकास की चोटी पर पहुँच जाय किन्तु सामान्य जन नैतिकता के सामान्य धरातल से भी नीचे गिरने लगेंगे और उसका साधारण प्रभाव लम्बी दूर में यह होगा कि व्यक्तियों के उत्तम विकास का मार्ग भी अवरुद्ध होने लगेगा।

दूसरी ओर यदि सामाजिक सुधार एवं प्रगति को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला तो व्यक्ति की स्वाधीनताएँ पिसने लगेगी और उस वातावरण में मशीनें पैदा की जा सकेंगी किन्तु स्वतंत्रचेता व्यक्तियों का अभाव हो जायगा, जिसका दीर्घकालीन प्रभाव यह होगा कि समाज के संचालन में अधिनायकवादी असर पैदा हो जायगा।

अतः व्यक्ति के विकास एवं समाज के सुधारसम्बन्धी कार्यक्रमों में स्वस्थ सन्तुलन बनाये रखना—यह समता-समाज का कौशल होना चाहिये। न व्यक्ति की स्वाधीनता को आँच आवे, और न कुछ व्यक्ति -

इतने सशक्त बन जावें कि वे बहुसंख्यक जनता के अधिकारों को कुचलने की हिमाकत कर सकें। दोनों बिन्दुओं में ऐसा सन्तुलन रहे कि व्यक्ति सामाजिक हित-रक्षा में प्रवृत्त हो तो समाज भी प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समान सहयोग में जागरूक बना रहे। यह सन्तुलन समाज के सारे सदस्यों की सतर्क दृष्टि एवं स्वस्थ निष्ठा पर निर्भर करेगा जिसका मानस समता-साधना की श्रेणियों में उन्हें बनाना होगा।

समता समाज अलग समाज न बने

अधिकांशतः ऐसा होता है कि कुछ विचारक एवं कार्यकर्त्ता मिल कर सार्वजनिक हित के लिये कोई संगठन खड़ा करते है और कालान्तर में उसके कार्य विस्तार में ऐसी स्थिति बन जाती है कि मानव समाज के विविध संगठनों में वह भी एक संगठन मात्र बन कर अलग थलग रह जाता है। वैसी स्थिति में उस संगठन की सार्वजनिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है। होना यह चाहिये कि जो संगठन व्यापक जन-कल्याण के लिये निर्मित होता है, उसे अपने अलग अस्तित्व की हठ से ऊपर उठ कर हर स्तर पर सामान्य जनता में अधिक से अधिक सम्मिलित होने का प्रयास करना चाहिये। अपने नियमित विस्तार के प्रति यह दृष्टिकोण बना रहे तो वैसा संगठन लोकप्रिय होकर धीरे-धीरे समूची जनता का संगठन बन जाता है।

समता समाज का प्रारंभ भी इसी विस्तृत दृष्टिकोण के साथ होना चाहिये क्योंकि उसका उद्देश्य समूची मानव जाति में समता स्थापित करना है अतः उसका आधार भी समूची मानव जाति ही रहेगी। आरम्भ छोटे क्षेत्र से हो किन्तु भावी विस्तार व्यापक दिशा में होना चाहिये एवं प्रत्येक समता-साधक "मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई" के आदर्श के साथ समाज में कार्यरत बने। भावना एवं कर्म में समाज के प्रत्येक सदस्य का जब ऐसा दृष्टिकोण हर समय रहेगा तो उसका स्पष्ट परिणाम यह होगा कि संगठन हर

मरो—अर्थात् जीवन की सार्थकता इसीमें है कि ऐसे श्रेष्ठ काम को जितना अपने से बने—कर गुजरो वरना जीवन जीवन नहीं, उसे मृत्यु का ही एक बहाना मानकर चलो।

समता समाज एक आन्दोलन है

आन्दोलन उसे कहते हैं जो नये विचारों से किसी को इस तरह हिला दे कि उसमें एक नई स्फूर्ति एवं जागृति उत्पन्न हो जाय। इस समता समाज की स्थापना के कार्यक्रम को भी एक ऐसे आन्दोलन का रूप दीजिये कि यह आज के रूढ़ एवं विषम समाज को जड़ से हिलादे, जागृति की ऐसी लहर बहादे कि सारे लोग विषमता की स्थितियों को मिटा डालने के लिये अपनी कमर कस लें और निश्चय करलें कि वे सारे समाज को सुखदायिनी समता के रंग में रंग कर ही चैन लेंगे।

समता-समाज को आन्दोलन इसलिये मानें कि इसके द्वारा सम्पन्नों और अभावग्रस्तों, शोषकों और शोषितों, पीड़कों और पीड़ितों तथा उच्चस्थों और दलितों—सबकी आँखें इस तरह खोली जाय कि जो अपने वर्तमान स्वरूपों में मानवता को कुसेवा कर रहे हैं, विषमताके नागपाश में बंधे हुए हैं वे सब समता-समाज के आन्दोलन को मन, वचन और कर्म से अपनावें तथा समता के सुख का सच्चा अनुभव लें।

समता समाज के संगठकों एवं संचालकों को प्रारम्भ से ही इस कार्यक्रम को एक आन्दोलन के रूप में ही जानना एवं मानना चाहिये। कोई भी आन्दोलन तभी चलता और सफल बनता है जब उसे शुरू करने वाले कार्यकर्ता स्वयं जीवट वाले हों तथा सर्वस्व समर्पण करके भी साध्य को सम्पन्न बनाने का संकल्प लेकर चलने वाले हों। समता-समाज की स्थापना का काम कोई छोटा या उपेक्षणीय काम नहीं है, जीवन को लगाने और खपाने का काम है। जैसे तपी हुई रेत पर वर्षा की कुछ बूंदें गिरती हैं तो वे पहले विलीन ही हो जाती हैं। फिर जब लगातार बूंदें गिरती रहती हैं तब कहीं जाकर उस रेत की तपन मिटती है और

उसमें गोलापन आता है। तो सभी रचनात्मक कार्यक्रमों में पहली बूंदों से आत्मसमर्पण किए बिना कार्यक्रम की सफलता की स्थिति नहीं बनती है। यह समता-समाज भी अपनी सफलता के लिये कई कार्यकर्त्ताओं के आत्मार्पण की मांग करेगा और यह अगर अपने अमित उत्साह एवं उमंग के बल पर पूरी नहीं की गई तो समता-समाज की सफलता भी कठिन है और समता की सर्वत्र स्थापना भी कठिन। इसलिये इसे एक कर्मठ आह्वान समझिये और समता-समाज की सफलता के लिये सन्नद्ध हो जाइये।

जहाँ विषमता दीखे, जुट जाइये !

अपनी आँखों और कानों को निरन्तर खुला रखिये, मन को सारे अवरोधों से मुक्त बना कर चलिये और फिर देखने का प्रयत्न कीजिये कि कहाँ-कहाँ विषमता किन किन रूपों में चल रही है, जला रही है और फैल रही है ? तब आपकी सुघड़ दृष्टि में विषमता के जो घिनौने रूप दिखाई देंगे, वे स्वयं आपके कर्म को जगा डालेंगे। विषमता के मानवता संहारक रूपों को देखकर आप स्वयं सन्नद्ध हो जायेंगे और किसी भी मूल्य पर समता की स्थापना हेतु कटिबद्ध बन जायेंगे।

ऐसी सजग दृष्टि एकांगी नहीं होगी। आप बाहर ही नहीं देखेंगे बल्कि बार-बार अपने भीतर भी झांकेंगे और सभी जगह विषमता के कार्य-कलापों को परखेंगे। यही परख आपको भी कसौटी पर कसेगी और समाज की भी पहिचान करेगी। इस दृष्टि में जहाँ-जहाँ जितने अंशों में या जिस किसी रूप में विषमता दिखाई दे, वहाँ-वहाँ आप जी जान से जुट जाइये कि वहाँ विषमता को नष्ट करके ही आप आगे बढ़ेंगे। एक ही बिन्दु पर चाहे समूचा जीवन समाप्त ही जाय किन्तु कर्मण्यता को हार नहीं खानी होगी। यदि ऐसी स्फूर्ति रही तो ऊँचा से ऊँचा परिणाम भी असंभव नहीं रहेगा। जीवन के अन्तर-बाह्य में

आज के विषम समाज की ऐसी अव्यवस्था से तुलना की जा सकती है जहाँ सत्ता और सम्पत्ति को लूटने की मारामारी मची हुई है। जो न्याय से नहीं, नीति से नहीं बल्कि अन्याय और अनीति से लूटी जा रही है। इस दुर्व्यवस्था में दुर्जन आगे बढ़कर लूट का सरदार बन जाता है तो हजारों सज्जन नीति और न्याय के पुजारी होकर भी विवश खड़े देखते रह जाते हैं।

टिकिट खिड़की के बाहर उभर उचकने वालों को समझा-बुझा कर, उनकी बांहें पकड़ कर एक 'क्यू' में खड़ा कर देने का जो प्रयास है, उसी को समाज के क्षेत्र में क्रान्ति का नाम दे दिया जाता है। सारी भीड़ उमड़े नहीं, अपनी-अपनी बारी से हरएक को टिकिट मिल जाय यह ऐसी क्रान्तिपूर्ण व्यवस्था का ही फल हो सकता है। मानव समाज में अपराधो मिटें, विषमता कटे और सभी मानव न्याय और नीति का फल प्राप्त करें—यही क्रान्ति का उद्देश्य हो सकता है।

क्रान्ति का चक्र यदि योजनाबद्ध रीति से घुमाया जाय तो निस्सन्देह वह विषमता को काटेगा भी सही तो समता की रक्षा भी करेगा। इस चक्र को जन-कल्याण का चक्र कहा जा सकता है। समता-समाज का यही आभास होना चाहिये कि वह अपनो सशक्त गति से क्रान्ति के चक्र को पूरे वेग से घुमावे ताकि नये समाज की नई धारणाएँ और परम्पराएँ जन्म लें तथा उन्हें निर्वहन करने-कराने वाली नई पीढ़ी का निर्माण किया जा सके।

मूल्य बदलें और मूल्य बनें

मानव समाज के विभिन्न संगठनों का संचालन किन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर होता है तथा ये ही सिद्धान्त जब कार्यान्वयन में आते हैं तो इनसे जिन परम्पराओं का निर्माण होता है, उन्हें ही सामाजिक मूल्यों के रूप में देखा जाता है। ये मूल्य समाज के पथ-प्रदर्शक होते हैं और इनके निर्माण में महान् पुरुषों का दिशा निर्देशन भी होता है। ये

मूल्य जबतक विकारग्रस्त नहीं होते, इनके आधार पर चलने वाले व्यक्तियों के जीवन एक निश्चित लक्ष्य की ओर ही बढ़ते हैं और यह दिशा सामाजिक उत्थान की दिशा होती है।

किन्तु काल-प्रवाह में एक बार बने ऐसे मूल्य जब विकारग्रस्त होकर जड़ता ग्रहण करने लगते हैं और जब उनमें प्रेरणा की शक्ति मूर्छित होने लगती है तब उन मूल्यों को बदल डालने की एक महती आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी ऐसी विडम्बना भी होती है कि विकृत मूल्यों को नष्ट करने का क्रम तो चल पड़ता है किन्तु उनके स्थान पर नवीन मूल्यों की रचना नहीं हो पाती है तब एक अराजकता की सी स्थिति होने लगती है। इससे बचने का यही सही उपाय होता है कि पुराने मूल्य बदलें और उनके स्थान पर नये मूल्य बनते जावें। इसमें यह याद रखना चाहिये कि सब पुराना गलत नहीं होता और सब नया सही नहीं होता। इसमें हंसवत् विवेक होना चाहिये कि कौन से पुराने मूल्यों में भी नई सृजन शक्ति भरी हुई है तथा कौन से नये मूल्य नये होने पर भी सजीव नहीं है? मूल्य बदलें और मूल्य बनें—इस क्रम में यह विवेक सतत जागृत रहना चाहिये और विशेषरूप से समता-समाज जैसे संगठन के लिये तो यह अत्यधिक जागृति का विषय होना चाहिये कि मूल्य बदलने और मूल्य बनाने का कार्य शुद्ध रचनात्मक दृष्टिकोण से हो।

विनाश और सृजन का क्रम

मूल्य बदलना विनाश का पक्ष है और मूल्य बनाना सृजन का पक्ष। विकृत को नष्ट करना अनिवार्य है और उसी की पृष्ठभूमि पर नये सृजन की आधारशिला रखी जाती है। जैनदर्शन ने इस क्रम को सर्वोच्च स्तर तक स्वीकार किया है। आत्मा जब परमात्मा के स्वरूप की ओर बढ़ती है तो उसका पहला चरण विनाश का होता है। पहले चरण को सफल बनानेवाला अरिहन्त कहलाता है। जो अरियों—शत्रुओं को

नष्ट करदे—वह अरिहन्त। यह विनाश व्यक्तियों से सम्बन्धित नहीं होता—विकारों से सम्बन्धित होता है। मिलावटी सोना होने पर कोई सोने को नहीं फेंकता बल्कि उसके मैल को कड़ी से कड़ी विधि द्वारा निकाल कर सोने को शुद्ध रूप दिया जाता है। वैसे ही व्यक्तियों के विनाश का जो सिद्धान्त-निर्देश देता है, वह भ्रामक होता है। विकृत से विकृत व्यक्ति हो—उसकी विकृति को निकाल कर व्यक्ति को शुद्ध रूप प्रदान करना ही किसी भी श्रेष्ठ सिद्धान्त का लक्ष्य होना चाहिये। कहीं भी विकृति हो—विषमता हो—उससे संघर्ष करना और उसे नष्ट करना—यह उत्थानकामी जीवन का पहला चरण होना चाहिये।

तब दूसरा चरण सृजन का प्रारम्भ होता है। जो अरिहन्त होकर ऊँचे आदर्शों को अपने जीवन में उतार कर उसका प्रकाश सारे संसार में फैलाता है, वही सिद्ध बनता है। जो साधले सो सिद्ध, और सिद्ध सृजन की सफलता का प्रतीक होता है। विनाश और सृजन—संघर्ष और निर्माण—ये दोनों जीवन के रचनामूलक पहलू होते हैं। समता-समाज को भी इन्हीं पहलुओं को हृदयंगम करके निर्माण की नई दिशा में आगे बढ़ना होगा।

जीवन के बहुमुखी विकास में समता

विषमता के मूल-स्वार्थ पर जितना नियंत्रण—जितना आघात सफल बनता जायगा, क्या तो व्यक्ति के जीवन में और क्या सामाजिक जीवन में—उतने ही अंशों में विषमता का विनाश भी संभव हो सकेगा। बाहर का परिग्रह घटेगा तो अन्दर की ममता भी घटेगी। ममता घटेगी और समता बढ़ेगी। समता होगी तो अनासक्ति भाव का प्रसार होगा—फिर बाहर के सामाजिक जीवन में परिग्रह की आवश्यकता तो होगी, उसका उपयोग भी किया जायगा, किन्तु उसके [illegible] लोभ नहीं स्वार्थ नहीं होगा और संग्रह की कुटिल वृ[illegible]

भला किसी भी प्रकार की विषमता जीवन की सहज समता को कैसे अपरूप बना सकेगी ?

जीवन के चहुँमुखी विकास में विषमता के अवरोध जब विनष्ट हो जायेंगे तो समता की सर्वक्षम हितकारी भावना से ओतप्रोत होकर मनुष्य अपने विकास में सम्पूर्ण समाज के विकास को ही प्रतिबिम्बित करेगा। तब व्यक्ति के विकास से समाज का विकास पुष्ट होगा तो समाज के विकास से व्यक्ति का विकास सरलता से पूर्णता प्राप्त कर सकेगा। इस चहुँमुखी विकास की सशक्त कड़ी सिर्फ समता ही हो सकती है।

सर्वरूपी समता

यह समता एक रूपमें नहीं, सर्व रूप में स्थापित की जानी चाहिये। जीवन के जितने रूप हैं—बाहर के और अन्तर के, उन सब रूपों में समता का समावेश होना चाहिये। विषमता वैसी आग है जो यदि एक क्षेत्र में भी बिना बुझाये छोड़ दी जाय तो वह वहाँ से फैलकर दूसरे क्षेत्रों में भी प्रवेश करने लगेगी। इस कारण यह आवश्यक है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में, कार्य-कलापों एवं विधि उपायों में समतामय प्रणाली की प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

बाह्य जीवन की दृष्टि से देखें कि राजनीतिक क्षेत्र में समान मताधिकार से समता कायम करली, किन्तु आर्थिक क्षेत्र में विषमता है तो उसका क्या परिणाम होता है—यह आज चारों ओर देखने को मिल सकता है। मत सभी का समान होता है, किन्तु जो आर्थिक दृष्टि से सशक्त होता है, वह कितने ही मतों को अपने लिये खरीदकर राजनीतिक समता की धज्जियाँ उड़ा देता है। उसी तरह बाह्य जीवन में समता की स्थितियाँ, कल्पना करें कि बना भी ली जाय किन्तु अन्तर्मन विषमता से भरा हो तो वह बाहर की समता कब तक टिकी हुई रह सकेगी ? वासनाएँ और लालसाएँ जब आक्रामक होकर अन्तर्मन पर टूटेंगी, तब बाहर की समता का कच्चा आवरण भी फट जायगा।

इसी कारण समता सर्वरूपी बननी चाहिये। अन्दर के जीवन में पहले समता आवे और वही जब बाहर के जीवन के विविध रूपों में फूटे तो वह समता भी स्थायी रह सकेगी और फलवती भी बन सकेगी। सभी ठौरों पर समता का प्रवेश हो जबतक ऐसा न हो—विषमता के विनाश का कार्य चलता रहे। सभी स्थानों से विषमता का विनाश और फिर सभी स्थानों पर समता की स्थापना—यह क्रम साथ-साथ चलता रहना चाहिये।

सर्व-व्यापी समता

सर्वरूपी समता सर्वव्यापी भी बननी चाहिये। जीवन के सभी रूपों में समता ढले किन्तु अगर वह सभी जीवनों में नहीं ढले तो समता का सामूहिक चित्र साकार नहीं हो पायगा और इसके बिना समता का सर्वव्यापी बन पाना भी संभव नहीं होगा। सर्वव्यापी समता को जीवन के स्थूल स्थानों से लेकर सूक्ष्म स्थानों तक प्रवेश करना होगा। अन्तर्मन यदि समता के मूल्यों को गहराई से धारण कर ले तो राजनीति, अर्थ या समाज का क्षेत्र हो—उनमें समता की प्रतिष्ठा करने में अधिक कठिनाई नहीं आवेगी, किन्तु अगर मनुष्य का अन्तर्मन ही स्वार्थ और विकार में डूबा हो तो समता के स्थूल क्षेत्रों में परिवर्तन काफी टेढ़ा और कठिन होगा।

यही कारण है कि आन्तरिक विषमता को मिटाने का पहले निर्देश किया जाता है। किसी भी सामूहिक कार्य का सफल श्रीगणेश भी उसी अवस्था में किया जा सकता है, जब कुछ ऐसे लोग तैयार होते हैं जो अपने अन्तर की विषमता को घटा कर समता का सन्देश लेकर आगे बढ़ते हैं। साथ में यह भी सत्य है कि ऐसे लोग किसी भी संगठन अथवा आन्दोलन के जरिये जिस वातावरण का निर्माण करते हैं, वह भी अन्य व्यक्तियों की जागृति का कारणभूत बनता है। तो कुछ लोगों को आन्तरिक समता बाहर की समता-स्थापना में योग देती है तो यह

स्थापित बाहर की समता भी अन्य व्यक्तियों की आन्तरिक समता को जगाती और प्रबुद्ध बनाती है। सर्व-व्यापी समता की ऐसी ही परस्पर प्रक्रिया होती है।

समता-समाज को इस बिन्दु को ध्यान में रखते हुए अपने कार्यक्रमों में आन्तरिक विषमता को घटाने व मिटाने के अभियान को प्राथमिकता देनी चाहिये ताकि आन्तरिक समता-धारियों की एक सशक्त अहिंसक सेना तैयार की जा सके, जो अमित निष्ठा के साथ बाह्य समता की स्थापना में जूझ सके और उसका वह जूझना न सिर्फ बाह्य समता की स्थापना को यत्र तत्र और सर्वत्र सकार रूप दे, बल्कि वह बहुसंख्यक लोगों की आन्तरिक समता को भी प्राणवान् बनावे।

समता से सुख, समृद्धि और शान्ति

सर्वरूपी और सर्वव्यापी समता जिस व्यक्ति व समाज के जीवन में घुसती और छा जाती है, वहाँ सुख, समृद्धि और शान्ति का निर्झर प्रवाहित होने लगता है। वह जीवन आनन्दमग्न ही नहीं बनता, परमानन्द में लीन हो जाता है।

यह सुख कैसा—समृद्धि और शान्ति कैसी? इन शब्दों को साधारण रूप से जिन अर्थों में समझा जाता है, समता के क्षेत्र में वे प्राप्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। सत्ता व सुख भी मिलता है, सम्पत्ति की समृद्धि भी मिलती है तथा भौतिक सुखों की शान्ति भी मिलती है, किन्तु समता-धारी ऐसे सुख, समृद्धि और शान्ति की खलना को समझ जाता है—इस कारण इनसे उपेक्षित होकर वह अपना रुख सच्चे सुख, सच्ची समृद्धि और सच्ची शान्ति की ओर मोड़ लेता है। जो बाहर की समृद्धि और शान्ति है, वह नश्वर होती है तो उनमें आन्तरिकता को आनन्दमग्न करने की भी स्थिति नहीं होती। यह रात दिन के अनुभव की बात है कि बाहर का कितना ही सुख हो किन्तु अन्दर में अगर क्लेश और

चिन्ता की आग सुलगती हो तो क्या वह बाहर की सुख सामग्री वास्तविक सुख दे सकती है ? इस कारण जो अन्तर का सुख मिलता है, वही सच्ची शान्ति भी प्रदान करता है और ऐसी शान्ति को प्राप्त करने वाला ही वास्तव में समृद्ध कहलाता है।

तो समता की साधना से जो सुख मिलता है वह दूसरों को सुख देने से मिलता है, इसलिये सच्चा और स्थायी होता है। इसी समतामय सुख से जो समृद्धि और शान्ति का निर्झर बहता है, उसमें जो जीवन डुबकियाँ लगाता है, वही जीवन कृतकृत्य एवं धन्य हो जाता है।

समता-साधक का जीवन धन्य होगा ही

अन्त में यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि जो समता की साधना करेगा, उसका स्वयं का जीवन तो धन्य होगा ही किन्तु वह समाज के जीवन को भी धन्य बनायगा।

समता समाज के साधकों के लिये यह ऊँचा लक्ष्य प्रकाशस्तंभ का काम दे और वे जीवन के सभी अन्दर-बाहर के क्षेत्रों में समता का प्रसार करें—यह वांछनीय है। जो क्रान्ति की मशाल को अपने मजबूत हाथों में पकड़ते हैं, वे उस मशाल से विकृति को जलाते हैं तो प्रगति की दिशा को प्रकाशित करते हैं। समता की मंजिल इसी मशाल की रोशनी में मिलेगी।

०

"समता, साम्यता या समानता मानव जीवन एवं मानव समाज का शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक—सभी का समता लक्ष्य है क्योंकि समता मानव-मन के मूल में है। इसी कारण कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है। जिस प्रकार आत्माएँ मूल में समान होती हैं किन्तु *कर्मों का मैल उनमें विभेद* करता है और जिन्हें संयम और नियम द्वारा समान बनाया जा सकता है, उसी प्रकार समग्र मानव समाज में भी स्वस्थ नियम प्रणाली एवं सुदृढ़ संयम की सहायता से समाजगत समता का भी प्रसारण किया जा सकता है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की मांग उतनी ही गहरी है। काश, कि हम उसे सुन और महसूस कर सकें तथा समता दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार में ढाल सकें।

वर्तमान विषमता के मूल में सत्ता व सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेषरूप से कारण भूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास में बाधक है। समता ही इसका स्थायी व सर्वजन हितकारी निराकरण है।